जैन विद्या

भाग-2

निर्देशन
आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती

आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
लाडनूं-341306
जिला : डीडवाना-कुचामन (राजस्थान) (भारत)
फोन नं. : 91-8742004849
ई-मेल : books@jvbharati.org
द्वारा प्रकाशित

भाषा – हिन्दी

कॉपीराइट – जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण – अप्रैल 2026

इस प्रकाशन का कोई भी भाग प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना किसी भी रूप में इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो कॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य किसी भी माध्यम से न तो पुनर्मुद्रित किया जा सकता है न संग्रहित किया जा सकता है और न प्रसारित किया जा सकता है।

मुद्रित एवं बाइंडिंग – श्री वर्धमान प्रिंट एण्ड पैक, गाजियाबाद (दिल्ली एन.सी.आर)

अधिकतम खुदरा मूल्य – 200/- (दो सौ रुपये मात्र)

जैन विद्या भाग - 2
निर्देशन : आचार्य महाश्रमण

प्रकाशकीय

जैन विद्या पाठ्यक्रम का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया है कि यह मानव जीवन के समग्र विकास में सहायक बने और जैन संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाए। जैन विद्या न केवल जीवन निर्माण का आधार है, बल्कि यह व्यक्ति को नैतिकता, अनुशासन, आत्मसंयम और आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में प्रेरित करती है।

इस पाठ्यक्रम का विशेष सौभाग्य है कि इसका निर्माण परम पूज्य आचार्य श्री महाश्रमण के प्रेरणाप्रद निर्देशन में संपन्न हुआ है। उनके मार्गदर्शन ने इस पाठ्यक्रम को गहन आध्यात्मिकता, व्यवहारिकता और मूल्यपरक दृष्टि प्रदान की है, जिससे यह और अधिक प्रभावी एवं उपयोगी बन सका है।

इस पाठ्यक्रम के माध्यम से जैन धर्म के इतिहास, संस्कृति तथा आध्यात्मिक परंपराओं का सुव्यवस्थित और सरल परिचय प्राप्त होता है। इसमें तत्त्व दर्शन, मंत्र, स्तुति, जैन सिद्धांतों के मौलिक आधार तथा अन्य अनेक विषयों का सारगर्भित विवेचन किया गया है। साथ ही, जीवन शैली पर आधारित प्रेरणादायक कथाओं को भी सम्मिलित किया गया है, जो विशेष रूप से बालकों में संस्कार निर्माण तथा चरित्र विकास के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

यह पाठ्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया है कि बालक, युवा तथा वृद्ध-सभी आयु वर्ग के लोग इसमें सहजता से भाग ले सकें और अपने जीवन को अधिक सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण बना सकें। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पाठ्यक्रम जैन विद्या के प्रसार के साथ-साथ समाज में नैतिक मूल्यों के जागरण का भी प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा।

टी. अमरचन्द लुंकड़
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

1.	लोगस्स	1
2.	श्रावक के बारह व्रत	9
3.	साधु के पांच महाव्रत	16
4.	नव-तत्त्व	20
5.	सम्यक्त्व-मिथ्यात्व	26
6.	भगवान ऋषभ	30
7.	आगम युग के प्रभावक आचार्य	37
8.	आचार्य तुलसी	45
9.	आचार्य महाप्रज्ञ	49
10.	जैन राजा	53
11.	पच्चीस बोल (1-14)	60

पाठ-1 लोगस्स

*** मूलपाठ**

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली।।1।।

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे।।2।।

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि।।3।।

कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च।।4।।

एवं मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।।5।।

कित्तिय वंदिय मए, जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरोग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु।।6।।

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।7।।

*** शब्दार्थ**

लोगस्स उज्जोयगरे	–	लोक में उद्योत (प्रकाश) करने वाले
धम्मतित्थयरे जिणे	–	धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक जिन (राग-द्वेष जीतने वाले)
अरिहंते कित्तइस्सं	–	अर्हतों का कीर्तन (स्तवन) करता हूं
चउवीसं पि केवली	–	चौबीस ही केवलियों का

उसभमजियं च वंदे	–	ऋषभ और अजित को वंदन करता हूं
संभवमभिनंदणं च सुमइं च	–	संभव, अभिनंदन और सुमति को
पउमप्पहं सुपासं	–	पद्मप्रभ और सुपार्श्व को
जिणं च चंदप्पहं वंदे	–	जिन और चन्द्रप्रभ को वंदन करता हूं।
सुविहिं च पुप्फदंतं	–	सुविधिनाथ (दूसरा नाम) पुष्पदंत को
सीअलसिज्जंस वासुपुज्जं च	–	शीतल, श्रेयांस और वासुपूज्य को
विमलमणंतं च जिणं	–	विमल और अनंत जिन को
धम्मं संतिं च वंदामि	–	धर्म और शांति को वंदन करता हूं।
कुंथुं अरं च मल्लिं	–	कुंथु, अर और मल्लि को
वंदे मुनिसुव्वयं नमिजिणं च	–	वन्दना करता हूं। मुनिसुव्रत और नमि जिनेश्वर को
वंदामि रिट्ठनेमिं	–	वंदना करता हूं अरिष्टनेमि को
पासं तह वद्धमाणं च	–	पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान–महावीर भगवान को
एवं मए अभिथुआ	–	इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किए हुए
विहुय-रयमला	–	पापरूपी रज-मल से रहित
पहीण-जरमरणा	–	जरा (वृद्धावस्था) और मरण से मुक्त
चउवीसंपि जिणवरा	–	चौबीस ही जिनवर
तित्थयरा मे पसीयंतु	–	तीर्थंकर देव मुझ पर प्रसन्न हों
कित्तिय वंदिय मए	–	कीर्तित वंदित मेरे द्वारा
जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा	–	जो ये लोक में उत्तम सिद्ध हैं
आरोग्ग बोहिलाभं	–	आरोग्य, बोधिलाभ
समाहिवरमुत्तमं दिंतु	–	श्रेष्ठ उत्तम समाधि दे
चंदेसु निम्मलयरा	–	चंद्रमाओं से निर्मलतर
आइच्चेसु अहियं पयासयरा	–	सूर्यों से अधिक प्रकाश करने वाले
सागरवरगंभीरा	–	समुद्र के समान गंभीर
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु	–	सिद्ध भगवान सिद्धि-मुक्ति मुझे दें

*** लोगस्स**

आवस्सयं आगम में लोगस्स का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें वर्तमान अवसर्पिणीकाल के चौबीस तीर्थंकरों की भाव स्तुति है। तीर्थ का अर्थ है–प्रवचन। तीर्थंकर प्रवचनकार होते हैं। वे समभाव के

उपदेशक होने के कारण उपकारी हैं। उनके गुणों की स्तुति करने से अंत:करण की शुद्धि होने के कारण दर्शन (सम्यक्त्व) की विशुद्धि होती है। अत: आत्मा निर्मल होती है। इसलिए तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। यह भक्तियोग का सूत्र है। इस स्तुति से तीर्थंकर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतरागी होते हैं। इनके साथ तादात्मय स्थापित करने का स्वस्थ उपाय है–भक्ति। उससे दर्शन (सम्यक्त्व) के प्रति आस्था सुदृढ़ बनती है।

एक ओर जैन दर्शन आत्मा को ही कर्त्ता-हर्त्ता मानता है, दूसरी ओर ऐसे भगवान मुझे आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर दें, मुक्त आत्माओं से वरदान की याचना करना सिखाता है, यह विरोधाभास क्यों?

यह सत्य है कि जैन दर्शन मुक्त आत्माओं को कर्त्ता नहीं मानता। हम उनसे कोई भी फल प्राप्ति कराने की आशा नहीं रखते। मुक्त आत्माएं हमें श्रेष्ठ वरदान दें, यह हमारी मंगलकामना है। हम सिद्ध भगवान के आदर्शों को सामने रखकर उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करते हैं। उनके गुणों को याद करते हैं। उनके आचरण को जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार सिद्ध भगवान हमारे अभ्युदय के हेतु बनते हैं, अवलम्बन बनते हैं। सम्यक्त्व और समाधि के लाभ की कर्त्ता तो हमारी आत्मा ही हैं।

*** लोगस्स तीर्थंकरों की स्तुति है। तीर्थंकरों के बारे में विशेष जानकारी के लिए ज्ञातव्य बोध–**

1. एक कालचक्र में 48 तीर्थंकर होते हैं।
   (उत्सर्पिणी में 24, अवसर्पिणी में 24)
2. एक चौबीसी से दूसरी चौबीसी का जघन्य अंतर 84 हजार वर्ष, उत्कृष्ट अंतर देशोन 18 कोड़ाकोड़ी सागर का है।
3. तीर्थंकर इस अवसर्पिणी के तीसरे और चौथे आरे में हुए।
4. प्रथम तीर्थंकर तीसरे आरे में और बाकी सब तीर्थंकर चौथे आरे में हुए।
5. ऋषभदेव भगवान की माता ने प्रथम स्वप्न वृषभ का देखा तथा शेष 23 तीर्थंकरों की माताओं ने हाथी का स्वप्न देखा।
6. तीर्थंकरों का जन्म महोत्सव देवता मेरु पर्वत के पंडुकवन में मनाते हैं।
7. बीसवें, बाईसवें तीर्थंकर हरिवंश में, शेष सभी इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए।
8. तीर्थंकर वर्षीदान के अंतर्गत प्रतिदिन 1 करोड़ 88 लाख स्वर्ण मुद्रा का दान देते हैं। 1 वर्ष में कुल 3 अरब, 88 करोड़, 80 लाख स्वर्ण मुद्रा का दान देते हैं।
9. भगवान महावीर ने अकेले, पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ भगवान 300 व्यक्तियों के साथ, भगवान वासुपूज्य 600 व्यक्तियों के साथ भगवान ऋषभदेव ने 4000 व्यक्तियों के साथ दीक्षा अंगीकार की।

10. प्रथम तीर्थंकर ने पहला पारणा ईक्षुरस से किया, जबकि 23 तीर्थंकरों ने खीर से किया।
11. भगवान महावीर को जंभिया नगरी के बाहर, भगवान ऋषभदेव को पुरिमतालनगर, अरिष्टनेमि प्रभु को रैवतक पर्वत पर, शेष तीर्थंकरों को अपने-अपने जन्मस्थान में केवलज्ञान प्राप्त हुआ।
12. पहले, उन्नीसवें, बाईसवें, तेईसवें तीर्थंकर को 3 उपवास में, वासुपूज्य को उपवास में, शेष सभी तीर्थंकरों को बेले के तप में केवलज्ञान हुआ।
13. 11वें तीर्थंकर को मध्याह्न में, 24वें तीर्थंकर को अपराह्न में, शेष सभी को पूर्वाह्न में केवलज्ञान प्राप्त हुआ।
14. भगवान ऋषभदेव को छः उपवास, भगवान महावीर के बेले और शेष तीर्थंकरों को मासखमण के तप में निर्वाण प्राप्त हुआ।
15. 1, 2, 4, 5, 7, 8, 10, 11वें तीर्थंकरों का रात्रि के प्रथम प्रहर में 3, 6, 9, 12वें तीर्थंकरों का द्वितीय प्रहर में, 13, 14, 16, 17, 18, 20, 22, 23वें तीर्थंकर का चतुर्थ प्रहर में, 15, 18, 21, 24वें तीर्थंकरों का तृतीय प्रहर में निर्वाण हुआ।
16. ऋषभ, अरिष्टनेमि व महावीर ने पर्यंकासन तथा अवशिष्ट इक्कीस तीर्थंकरों ने कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्वाण को प्राप्त किया।
17. दो तीर्थंकर बाल-ब्रह्मचारी हुए–1. मल्लिनाथ, 2. अरिष्टनेमि।
18. 9, 14, 15, 16वें तीर्थंकर के शासनकाल में साध्वियों से साधु ज्यादा थे।
19. 24 तीर्थंकर में से 5 तीर्थंकरों ने राज्य नहीं किया–1. वासुपूज्य, 2. मल्लिनाथ, 3. अरिष्टनेमि, 4. पार्श्वनाथ, 5. महावीर स्वामी।
20. दो तीर्थंकरों 1. भगवान अरिष्टनेमि ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही 16 प्रहर की देशना दी, 2. प्रभु महावीर ने निर्वाण के समय 16 प्रहर की देशना दी।
21. 24 तीर्थंकरों में से 6 तीर्थंकरों के संतान नहीं हुई–1. अजितनाथ, 2. विमलनाथ, 3. मल्लिनाथ, 4. नमिनाथ, 5. अरिष्टनेमि, 6. पार्श्वनाथ।
22. प्रथम तीर्थंकर के समय–ऋजुजड़, बाईस मध्यवर्ती तीर्थंकरों के समय–ऋजुप्राज्ञ, अंतिम तीर्थंकर के समय–वक्रजड़ मनुष्य की प्रकृति होती है।
23. प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के साधु-साध्वी के श्वेत वस्त्र तथा मध्य के 22 तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों के गृहस्थ वेश होता है।
24. 24 तीर्थंकरों में से भगवान महावीर का जीवन सबसे अधिक उपसर्ग और तपप्रधान था।
25. प्रथम तीर्थंकर ने 14 पूर्व का एवं 23 तीर्थंकरों ने 11 अंग का ज्ञान पूर्व भव में प्राप्त किया।

26. भगवान ऋषभदेव के 12, प्रभु महावीर के 8, शेष 22 तीर्थंकरों के 2-2 समवसरण हुए। कुल 64 समवसरण हुए।

27. भगवान वासुपूज्य, भगवान मल्लिनाथ, भगवान अरिष्टनेमि, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर, इन पांचों ने प्रथम वय अर्थात् कुमारावस्था में, शेष तीर्थंकर पिछली वय में दीक्षित हुए।

28. अनार्य देश में चार तीर्थंकरों ने (1, 22, 23, 24) विचरण किया।

29. प्रथम तीर्थंकर को एक अहोरात्रि, अंतिम तीर्थंकर को एक अन्तर्मुहूर्त्त नींद आई, जबकि 22 तीर्थंकरों को नींद नहीं आई।

30. 9वें सुविधिनाथ से 16वें शांतिनाथ भगवान तक सात अंतरों में धर्म तीर्थ का विच्छेद हुआ। तीर्थ विच्छेद का समय पौने तीन पल्योपम का था। 9वें से 16 तीर्थंकर के अंतरों में द्वादशांगी (12 अंग) का विच्छेद हुआ। दृष्टिवाद का विच्छेद सभी तीर्थंकरों के अंतर काल में हुआ।

31. प्रथम तीर्थंकर के केवलज्ञान-प्राप्ति के अन्तर्मुहूर्त्त के बाद, नेमिनाथ भगवान के केवलज्ञान के 2 वर्ष बाद, पार्श्वनाथ भगवान के केवलज्ञान के 3 वर्ष बाद और महावीर भगवान के केवलज्ञान के 4 वर्ष बाद, शेष तीर्थंकरों के केवलज्ञान के एक शताब्दी के बाद भव्य आत्माओं का मोक्ष जाना प्रारंभ हुआ।

32. 8, 9 तीर्थंकर का वर्ण श्वेत। 6, 12 तीर्थंकर का रक्त वर्ण। 20, 22 तीर्थंकर का कृष्णवर्ण। 19, 23 तीर्थंकर का नील वर्ण। शेष तीर्थंकरों का वर्ण सुवर्ण था।

33. 1 से 8 तीर्थंकर की माता मोक्ष में गई, भगवान महावीर के ऋषभदत्त पिता व देवानंदा माता मोक्ष में गई।[1]

    प्रभु ऋषभदेव के पिता भवनपति में नागकुमार देव में गए, 2 से 5 तीर्थंकर के पिता चौथे देवलोक में गए, 17 से 23वें तीर्थंकर के माता-पिता चौथे देवलोक में गए, प्रभु महावीर के माता-पिता बारहवें देवलोक में गए।

34. तीर्थंकर दो पूर्वजन्म में नियमतः सम्यक् दृष्टि होते हैं।

35. तीर्थंकर की मां चौदह महास्वप्न देखती है।

36. तीर्थंकर गर्भ से अवधिज्ञानी होते हैं व दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् उन्हें मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

37. तीर्थंकर का शरीर अतिशय रूप सम्पन्न, निरोगी व मल रहित होता है।

---

1. भगवान महावीर के दो माता-पिता थे–
   1. ऋषभदत्त-देवानन्दा।
   2. सिद्धार्थ-त्रिशला।

38. तीर्थंकर का रूधिर, मांस गाय के दूध की भांति सफेद होता है।

39. तीर्थंकर श्रावक नहीं होते।

40. तीर्थंकर उपशम श्रेणी नहीं लेते।

41. तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में चार कारणों से बोलते हैं–

    1. याचना करने के लिए।

    2. मार्ग पूछने के लिए।

    3. आज्ञा लेने के लिए।

    4. प्रश्नों का उत्तर देने के लिए।

42. तीर्थंकर के 34 अतिशय होते हैं–4 जन्मजात, 15 केवलज्ञानी होने के बाद, 15 देवकृत।

43. तीर्थंकर के कल्याणक के समय में प्रथम नरक में सूर्य के समान उद्योत होता है। दूसरी नरक में बादल से आच्छादित सूर्य के समान उद्योत होता है। तीसरी नरक में चन्द्रमा के समान। चौथी नरक में बादल आच्छादित चन्द्रमा के समान। पांचवीं नरक में शुक्र, बृहस्पति के समान। छठी नरक नक्षत्र के समान। सातवीं नरक में तारा के समान उद्योत होता है।

44. 12 प्रकार की परिषद्–4 जाति के देवता, 4 जाति की देवियां, मनुष्य, मनुष्यणी, तिर्यंच, तिर्यंचणी–ये 12 प्रकार की परिषद् हैं। अथवा 4 प्रकार के देव, 4 प्रकार की देवियां, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका हैं।

45. तीर्थंकर द्वारा अर्धमागधी भाषा में दिया गया प्रवचन मनुष्य एवं पशु-पक्षी सभी समझ लेते हैं।

46. तीर्थंकर बनने के बाद उपसर्ग नहीं आते।

47. तीर्थंकर के केश, दाढ़ी, मूंछ व नख नहीं बढ़ते।

48. तीर्थंकर के आस-पास अनेकों योजनों तक भय, वैर, रोग, शोक, अकाल, दुष्काल, महामारी जैसी स्थितियां नहीं होती।

49. तीर्थंकर के देवकृत अतिशयों में अशोक वृक्ष, पुष्प वृष्टि, दिव्य ध्वनि, देव दुंदुभि, स्फटिक सिंहासन, भामंडल, छत्र, चामर आदि होते हैं।

50. तीर्थंकर अनंत बलशाली होते हैं।

    12 सुभटों का बल 1 वृषभ में,

    10 वृषभों का बल 1 अश्व में,

    12 अश्वों का बल 1 महिष में,

    15 महिषों का बल 1 गज में,

500 गजों का बल 1 सिंह में,

2000 सिंहों का बल 1 अष्टापद में,

10 लाख अष्टापदों का बल 1 बलदेव में,

2 बलदेव का बल 1 चक्रवर्ती में,

2 वासुदेव का बल 1 चक्रवर्ती में,

1 करोड़ चक्रवर्ती का बल 1 इंद्र में,

ऐसे बलशाली अनंत इंद्र तीर्थंकर की कनिष्ठ अंगुली को भी नहीं हिला सकते।

51. 15 कर्मभूमि में जघन्य 20 व उत्कृष्ट 170 तीर्थंकर एक साथ हो सकते हैं।

52. दो तीर्थंकरों का कभी मिलन नहीं हो सकता।

तीर्थंकर गोत्र बंध के कारण

तीर्थंकर वे ही बनते हैं जिन्होंने पूर्व भव में तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति का उपार्जन किया हो। यह कर्म प्रकृति बंधकारक है तदपि यह विशिष्ट साधना, तपस्या आदि से कर्म-क्षय के साथ स्वयंमेव बंधने वाली कर्म प्रकृति है। यह पुण्य की उत्कृष्ट प्रकृति है। जैन आगम ज्ञाताधर्मकथा में तीर्थंकर नाम कर्म बंध के बीस कारण बताए गए हैं। वे इस प्रकार हैं–

1. अर्हत् के प्रति भक्ति।
2. सिद्ध के प्रति भक्ति।
3. प्रवचन के प्रति भक्ति।
4. गुरु की उपासना-सेवा करना।
5. स्थविर की उपासना-सेवा करना।
6. बहुश्रुत की उपासना-सेवा करना।
7. तपस्वी मुनि की उपासना-सेवा करना।
8. ज्ञान में निरंतर उपयोग करना।
9. दोष रहित सम्यक्त्व की अनुपालना करना।
10. गुणीजनों का विनय करना।
11. विधिपूर्वक आवश्यक (प्रतिक्रमण आदि) करना।
12. शील और व्रत का निरतिचार पालन करना।
13. वैराग्य भाव में वृद्धि करना।
14. तप व त्याग में संलग्न होना।

15. अग्लान भाव से वैयावृत्य करना।
16. समाधि उत्पन्न करना।
17. अपूर्व ज्ञान का अभ्यास करना।
18. वीतराग-वचनों पर गहन आस्था रखना।
19. सुपात्र दान देना।
20. जिन-शासन की प्रभावना करना।

यह आवश्यक नहीं है कि उपरोक्त बीस ही कारणों के सेवन से तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।

पाठ-2 श्रावक के बारह व्रत

1. **अहिंसा-अणुव्रत**
2. **सत्य-अणुव्रत**
3. **अस्तेय-अणुव्रत**
4. **ब्रह्मचर्य-अणुव्रत**
5. **अपरिग्रह-अणुव्रत**
6. **दिग्विरति-व्रत**
7. **भोगोपभोग-परिमाण-व्रत**
8. **अनर्थदण्डविरति-व्रत**
9. **सामायिक-व्रत**
10. **देशावकाशिक-व्रत**
11. **पौषधोपवास-व्रत**
12. **अतिथि-संविभाग-व्रत**

व्रत धार्मिक जीवन की आधारशिला (मूलगुण) है। धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खड़ा किया जा सकता है।

धर्म की आराधना में जैसे साधु-साध्वियां संघ के अंग है, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी है। ये चारों मिलकर ही चतुर्विध संघ को पूर्ण बनाते है। इसलिए भगवान ने मुनिधर्म (पंच महाव्रतों) के साथ-साथ गृहवासियों के लिए भी बारह प्रकार के श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है। वास्तव में बारहव्रती श्रावक ही श्रावक कहलाने का अधिकारी है, किंतु इस शब्द को इतनी व्यापकता मिल गई कि श्रावक कुल में जन्म लेने वाला हर व्यक्ति बिना किसी पुरुषार्थ के श्रावक बन जाता है। एक डॉक्टर का पुत्र बिना अध्ययन किए डॉक्टर नहीं बन सकता। इसी प्रकार एक जैन श्रावक का पुत्र श्रावक धर्म को समझे बिना और उसका पालन किए बिना ही श्रावक कैसे कहला सकता है। इसलिए प्रस्तुत पाठ में श्रावक के बारह व्रत का ज्ञान और उसका आचरण श्रावकत्व की उपलब्धि के लिए आवश्यक है।

1. अहिंसा-अणुव्रत

आत्मिक पक्ष–श्रावक छोटे-बड़े सभी जीवों की मानसिक, वाचिक तथा कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं करता, परन्तु वह कुछ अंशों में स्थूल हिंसा का त्याग कर सकता है। चलते-फिरते निरपराध प्राणियों को जानबूझकर मार डालने का त्याग करना–स्थूल हिंसा का त्याग करना, अहिंसा अणुव्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–हिंसा की भावना से परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। उससे विरोधी भावना बलवती बनती है। उससे मानवता नष्ट होती है। अतः हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का उद्देश्य है– '**मेत्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ**'–सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नहीं है ।

2. सत्य-अणुव्रत

आत्मिक पक्ष–श्रावक सूक्ष्म असत्य बोलने का त्याग करने में अपने को असमर्थ पाता है, परन्तु यदि वह सावधानी रखे तो बड़ा असत्य बोलने का त्याग कर सकता है। जिससे किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो, वैसे असत्य का त्याग करना सत्य-अणुव्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–समाज के सारे व्यवहार का आधार सत्य है । उसके बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। लेन-देन के बिना काम नहीं चलता और वह विश्वास के बिना नहीं होता और विश्वास सत्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्य सदा अपेक्षित है।

3. अस्तेय-अणुव्रत

आत्मिक पक्ष–डाका डालकर, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर, बड़ी चोरी का त्याग करना अस्तेय-अणुव्रत है। जिस चोरी से राज्य-दण्ड मिले और लोग निन्दा करें वैसी चोरी बड़ी घृणित वस्तु है। उसे छोड़ना प्रत्येक श्रावक का ही नहीं, प्रत्येक सभ्य-व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

व्यावहारिक पक्ष–दूसरों पर अधिकार जमाने, लूट-खसोट करने, डाका डालने और सैनिक आक्रमण करने से अशांति का वातावरण पैदा होता है। जनता तिलमिला उठती है। चारों ओर भय छा जाता है। अतः स्थायी शांति के लिए सभी अपराधों का त्याग करना सबके लिए अनिवार्य है। श्रावक के अस्तेय-व्रत की यह एक महत्ती उपयोगिता है। चोरी सामाजिक विष है। समाज की उन्नति के लिए भी इस विष का नाश अपेक्षित होता है।

4. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

आत्मिक पक्ष–कामुकता की सीमा करना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है । वेश्या-गमन और पर-स्त्री संभोग का त्याग करना व अपनी स्त्री के साथ भी संभोग की मर्यादा करना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। इसी प्रकार स्त्री भी पर-पुरुष संभोग का त्याग करती है और अपने पति के साथ भी संभोग की मर्यादा करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–ब्रह्मचर्य ही जीवन है। उसके बिना मनुष्य निःसत्त्व, बलहीन, दीन और सुषुप्त बन जाता है। ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास अटल होता है। उसे न्यायमार्ग में कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का आत्मबल बड़ा विचित्र होता है। शक्ति-संपन्न समाज के निर्माण में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा योग है।

5. अपरिग्रह-अणुव्रत

आत्मिक पक्ष–सोना, चांदी, मकान, धन आदि सब परिग्रह हैं। परिग्रह के संचय की मर्यादा करना अपरिग्रह-अणुव्रत है। दुनिया में धन-संपदा की कोई सीमा नहीं। मानव ज्यों-ज्यों उसका संचय करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती हुई लालसा को रोकने के लिए इस अपरिग्रह-अणुव्रत का विधान है। कहीं न कहीं तो आदमी को सन्तोष करना ही चाहिए। पदार्थों के भोग के साथ उसकी वासना को त्यागना ही चाहिए।

व्यावहारिक पक्ष–धन-धान्य आदि वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। समाजवादी कहते हैं कि एक धनकुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र–ऐसी व्यवस्था हम देखना नहीं चाहते । अपरिग्रह-व्रत का हार्द यह है कि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह मत करो।

उपरोक्त पांच अणुव्रतों की पुष्टि के लिए क्रमशः तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।

6. दिग्विरति-व्रत

आत्मिक पक्ष–पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित कर उसके बाहर हर तरह के सावद्य-कार्य करने का त्याग करना दिग्विरतिव्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–दिग्-व्रत–से विस्तारवादी मनोवृत्ति कम होती है। सभी दिशाओं में जाने की मर्यादाएं हो जाएं तो सहज ही शोषण और आक्रमण जैसी स्थितियाँ हट जाए। जिनमें विस्तारवादी भावनाएं होती हैं, वे व्यापार करने व दूसरों पर अधिकार करने के लिए दूर-दूर तक जाते हैं। किन्तु दिग्व्रती बहुत दूर तक या तो जाता ही नहीं और जाता है तो व्यापार या आक्रमण के लिए नहीं जाता।

7. भोगोपभोग-परिमाण-व्रत

आत्मिक पक्ष–पन्द्रह प्रकार के कर्मादान और छब्बीस प्रकार के भोगोपभोग की प्रवृत्ति की मर्यादा करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–कहा जाता है कि अपने देश की उद्योग-वृद्धि के लिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से यह बात सहज ही फलित हो जाती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को काम में नहीं लाऊंगा, इतनी से अधिक वस्तुओं को काम में नहीं लाऊंगा, तब आत्म-कल्याण के साथ-साथ देश की उन्नति सहज ही हो जाती है।

8. अनर्थ-दण्ड-विरति-व्रत

आत्मिक पक्ष–अपने प्रयोजन के लिए मनुष्य हिंसा किए बिना नहीं रह पाता किन्तु बिना प्रयोजन हिंसा करना कहां तक उचित है? बिना प्रयोजन हिंसा में प्रवृत्ति करने का त्याग करना अनर्थ-दण्ड विरति व्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिए। बिना प्रयोजन चलते-फिरते किसी जीव को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, बिना मतलब पानी गिराना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, अग्नि को जलाकर छोड़ देना, घी-तेल आदि के बर्तनों को खुला रख देना–इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं, जिनसे बचना आत्म-कल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, नागरिक-दृष्टि से भी उपादेय है।

9. सामायिक-व्रत

आत्मिक पक्ष–एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर स्व-भाव तथा समभाव में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–समता सबसे बड़ा सुख है। विषमता दुःख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए नौवें व्रत का विधान है। एक मुहूर्त्त तक आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा समता (सामायिक) की आराधना करने से वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है।

10. देशावकाशिक-व्रत

आत्मिक पक्ष–एक निश्चित अवधि के लिए हिंसा आदि का त्याग करना देशावकाशिक-व्रत है। आठ व्रतों में जो त्याग किए जाते हैं, वे जीवन भर के लिए किए जाते हैं। जो त्याग दो-चार वर्ष आदि की मर्यादा सहित किए जाते हैं, वे सब दसवें व्रत में समाते हैं।

व्यावहारिक पक्ष–दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिए दसवां व्रत है। खाने-पीने या भोग्य पदार्थों की दुनिया में कमी नहीं। मनुष्य लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करता है। परन्तु उससे शारीरिक एवं मानसिक–दोनों तरह की हानि होती है। दसवाँ व्रत सिखाता है कि भोग्य-पदार्थों की असारता को समझकर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य-पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि-सहित ही करो। यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक-एक दिन के लिए करो या उससे भी कम समय के लिए करो। उससे आत्म-कल्याण होगा। साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी, आत्मबल भी बढ़ेगा।

11. पौषधोपवास-व्रत

आत्मिक पक्ष–अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा अन्य किसी तिथि में उपवास के साथ शारीरिक साजसज्जा को छोड़कर एक दिन-रात तक सर्व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना पौषधोपवास-व्रत है। चौविहार उपवास के बिना पौषधोपवास-व्रत नहीं होता। तिविहार उपवास कर जो चार प्रहर या अधिक समय तक पौषध की तरह उपासना की जाती है, वह देशावकाशिक-व्रत होता है, पौषधोपवास-व्रत नहीं। वह (पौषधोपवास-व्रत) चौविहार उपवास के साथ ही हो सकता है। उसका समय चार प्रहर व आठ प्रहर का है।

व्यावहारिक पक्ष–ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध-उपवास करना ही चाहिए इससे आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

12. अतिथि-संविभाग-व्रत

आत्मिक पक्ष–साधु को शुद्ध दान देने की भावना श्रावक-श्राविका का कर्त्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु बनाना, अपने लिए बनायी जाने वाली वस्तु में साधु के निमित्त कुछ अधिक बना लेना, यह दोषपूर्ण प्रवृत्ति है। अतः साधु को अशुद्ध दान देने का त्याग करना और निर्दोष दान देना अतिथि-संविभाग-व्रत है।

व्यावहारिक पक्ष–बारहवें व्रत में संविभाग का उपदेश है। अपने खाने-पीने और पहनने की वस्तु का कुछ विभाग मुनि को देना श्रावक का धर्म है। इस प्रकार दान से जो कमी हो, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा आदि न कर आत्म-संयम करना चाहिए। गृहस्थ के लिए भोजन बनाया जा सकता है, मोल भी लिया जा सकता है परंतु साधु ऐसे आहार को कभी नहीं लेता। अतः श्रावक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह सुपात्र-दान है, आत्मसंयम है।

❊ उपसंहार

कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान महावीर की साधना-पद्धति बहुत कठोर है। यह सर्वथा निराधार नहीं है। उनकी साधना-पद्धति में कठोर-चर्या के अंश अवश्य हैं, किन्तु वे अनिवार्य नहीं है।

भगवान महावीर ने देखा कि सबकी शक्ति और रुचि समान नहीं होती। भगवान महावीर की साधना-पद्धति में मृदु, मध्य और अधिक–तीनों मात्राओं का समन्वय है। मनुष्य भी मन्द, मध्य और प्राज्ञ–तीन कोटि के होते हैं। इन तीनों कोटियों को एक कोटि में रखकर धर्म की व्याख्या करने की अपेक्षा विभिन्न कोटि के लोगों के लिए विभिन्न दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या करना अधिक मनोवैज्ञानिक है। भगवान महावीर ने धार्मिक जीवन की अनेक कक्षाएं प्रतिपादित की। गृहवासी के लिए चार कक्षाएं हैं–

1. **सुलभ बोधि**–यह प्रथम कक्षा है। इसमें न धर्म का ज्ञान होता है और न अभ्यास ही। केवल उसके प्रति अज्ञात अनुराग होता है। सुलभ-बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में धर्माचरण की योग्यता पा सकता है।
2. **सम्यग् दृष्टि**– यह दूसरी कक्षा है। इसमें धर्म का अभ्यास नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान होता है।
3. **अणुव्रती**–यह तीसरी कक्षा है। इसमें धर्म का ज्ञान और अभ्यास दोनों होते हैं।
4. **प्रतिमाधर**–यह चौथी कक्षा है। इसमें धर्म का विशेष अभ्यास होता है।

मुनि के लिए निम्न दो कक्षाएं हैं–

1. **संघवासी मुनि**–यह पहली कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण की प्रधानता है, तपस्या की प्रधानता नहीं है।
2. **एकलविहारी मुनि**–यह दूसरी कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण के साथ-साथ तपस्या भी प्रधान होती है।

इन कक्षाओं मे मुनि के लिए दूसरी (एकलविहारी) कक्षा और गृहवासी के लिए चौथी (प्रतिमाधर) कक्षा में कुछ कठोर साधना का अभ्यास होता है। शेष कक्षाओं की साधना का मार्ग ऋजु है।

*** क्या आप जानते है**

स्थानांग सूत्र (4/430) में श्रावक-श्राविकाओं को भगवान महावीर ने साधु-साध्वियों के माता-पिता की उपमा दी है।

*** कथा बोध**

श्रमण भगवान महावीर राजगृही के गुणशीलक उद्यान में विराजमान थे। यह सारा वृतान्त प्रथम स्वर्ग के दर्दुर देव ने अपने अवधिज्ञान से देखा। सहसा सदलबल प्रभु के दर्शनार्थ आया। अपनी दिव्य ऋद्धि का प्रदर्शन करने के लिए एक दिव्य नाटक समवसरण में दिखाया। नाटक के समाप्त होने पर देव ने प्रभु की वन्दना की और अपने स्थान पर चला गया।

सभी दर्शकों के मन में कौतुहल और विस्मय जागा, तब भगवान के प्रथम गणधर गौतम स्वामी ने पूछा–'प्रभु! यह देव कौन था?

प्रभु ने अपने प्रिय शिष्यों के सामने सारी बात यों कही–

गौतम–यह इसी राजगृही में रहने वाला 'नन्दन मणिकार' था नगर में वह प्रतिष्ठित तथा अच्छा ऋद्धिसम्पन्न था। मैं विहार करता हुआ एक बार राजगृही में आया। तब उसने मेरे पास श्रावक-धर्म स्वीकार किया और बारह व्रतों की साधना करने लगा। मैं वहाँ से अन्यत्र चला गया। 'नन्दन' सत्संग के अभाव में शनैः शनैः धर्म विमुख होने लगा। आत्मभाव को भूलकर विभाव में फँसने लगा। सम्यक्त्व से दूर होकर मिथ्यात्वदशा के निकट पहुँच गया। संयोग की बात थी एक बार उसने ग्रीष्म ऋतु में तीन दिन के व्रत सहित पौषध किया। गर्मी की अधिकता से रात को उसे तीव्र प्यास लगी। प्यास के कारण नींद भी उचट गई, करवटें बदलता रहा। नींद और प्यास से बेहाल बना 'नन्दन मणिकार' सोचने लगा–'धन्य है उन्हें जो राजगृही में कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि जलाशय बनवाते हैं, जिसके जल का उपयोग अनेक व्यक्ति करते हैं। कोई स्नान करता है तो कोई पीता है। यों अनेकानेक लोगों को जीवन (जल) देकर लोगों के जीवनदाता बनते है। मैं भी पौषधपूर्ण करके यहाँ राजा श्रेणिक की आज्ञा लेकर एक सुन्दर बावड़ी बनवाऊँगा, जिसमें सब तरह की सुख-सुविधा लोगों को उपलब्ध हो सके, ऐसी व्यवस्था वहाँ करूँगा।'

दूसरे दिन पौषध करके वह अपनी दैनिकचर्या से निवृत हुआ। सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित होकर नन्दनमणिकार महाराज श्रेणिक के दरबार में उपस्थित हुआ। अपनी मनोभावना व्यक्त करते हुए बावड़ी बनवाने के लिए आज्ञा ली। राजा का आदेश प्राप्त कर उसने नगर के बाहर एक सुन्दर बावड़ी बनवाई, जिसे देखकर सभी लोग 'नन्दन' को साधुवाद देने लगे। बावड़ी के चारों कोनों में भोजनशाला, चित्रशाला, चिकित्सालय तथा अलंकारशाला की भी साथ-साथ व्यवस्था की, जिससे

सारी सुविधाएं और सभी आमोद-प्रमोद के साधन एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सकें। जन-जन के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर नन्दन का मन बाँसों उछलने लग जाता।

भाग्यदशा ने करवट ली, नन्दन के शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न हो गए। अनेक उपचार कराये गए पर सारे बेकार सिद्ध हुए। अन्त में उन रोगों से पीड़ित होकर नन्दन मृत्यु को प्राप्त हुआ। मरकर वह उसी नन्दा-पुष्करिणि में आसक्त बना हुआ जीव मेंढक के रूप में पैदा हुआ। जब वह मेंढक वहाँ कुछ बड़ा हुआ तब वहाँ स्नान करते, पानी पीते लोगों के मुँह से नन्दनमणिकार के गुणगान सुनकर उसके मन में कुछ विचार आया। उसे वे शब्द पूर्व परिचित से लगे। चिन्तन करते-करते उस मेंढक को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और उसने अपने पूर्व-जन्म को देखा। भगवान महावीर के द्वारा प्रदत बोध तथा उनसे स्वीकृत व्रत उसे याद आए। सम्यक्त्व छोड़कर मिथ्यात्व में फँस जाने का वह अनुत्ताप करने लगा। उसी समय मेंढक ने अभिग्रह कर लिया कि मैं दो-दो दिन के व्रत करूंगा तथा पारणे के दिन भी बावड़ी का लोगों के स्नान आदि के द्वारा अचित्त बना हुआ जल ही ग्रहण करूँगा। यों कठिनतम अभिग्रह करके वह जीवन यापन करने लगा।

प्रभु ने आगे कहा–मैं एक बार इसी राजगृही में आया। लोगों के मुँह से मेरे आने का संवाद सुनकर वह मेंढक मेरे दर्शनार्थ वहाँ से चल पड़ा । उधर से राजाश्रेणिक अपनी विशाल सेना के साथ दर्शनार्थ आ रहा था। महाराज के घोड़े के पैर से वह मेंढक दब गया। मरणासन्न मेंढक ने एक ओर जाकर अरिहन्त, सिद्ध, धर्माचार्य का स्मरण करते हुए अनशन स्वीकार कर लिया। अनशनपूर्वक, समाधिमरण प्राप्त कर के वह मेंढक प्रथम स्वर्ग में दर्दुर नामक देव हुआ। यह वही देव वहाँ से दर्शनार्थ यहाँ आया तथा अपनी ऋद्धि दिखाकर अपने स्थान की ओर चला गया। यह दर्दुर देव वहाँ से महाविदेह में मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

पाठ-3 साधु के पांच महाव्रत

पांच महाव्रत–

1. अहिंसा महाव्रत

2. सत्य महाव्रत

3. अस्तेय महाव्रत

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत

5. अपरिग्रह महाव्रत।

कोई दीक्षित होता है, उस समय वह आजीवन पाँच महाव्रतों का पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। वह तीन करण, तीन योग से पाँच आश्रवों (हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह) का प्रत्याख्यान करता है।

अहिंसा महाव्रत–पहला महाव्रत अहिंसा का है। उसमें जीव-हिंसा का सर्वथा त्याग किया जाता है। प्रश्न होता है–भोजन जीवन का सर्व प्रथम साधन है। उसके बिना जीवन टिक नहीं सकता और भोजन हिंसा के बिना बनता नहीं, ऐसी स्थिति में अहिंसक साधु कैसे जीए?

साधु न भोजन बनाता है, न दूसरों से बनवाता है और न भोजन बनाने वाले को अच्छा ही समझता है। गृहस्थ अपने लिए जो भोजन बनाता है उसी का अंश प्राप्त कर वह अपना जीवन निर्वाह कर लेता है।

प्रश्न–हिंसा से बचने के लिए साधु भले स्वयं न पकाए, न दूसरों से पकवाए और पकवाने को भले अच्छा न समझे, फिर भी हिंसा से तैयार किए हुए भोजन को वह लेता है। तब वह उस हिंसा के दोष का भागी क्यों नहीं होगा?

उत्तर–हिंसा-जनित वस्तु को लेने वाला उसी अवस्था में हिंसा का दोषी बनता है जब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उस हिंसा में उसका कुछ भाग हो। जो व्यक्ति अपने निमित्त बनाए भोजन को किसी भी अवस्था में नहीं लेता, वह उस हिंसा का भागी नहीं बनता। गृहस्थ अपने लिए हिंसा करता है, साधु

के लिए नहीं। अगर साधु के लिए कोई भोजन बना दे और साधु उसे ले ले तो वह उस हिंसा से बच नहीं सकता। जिस समय गृहस्थ के घर से साधु भोजन लाता है–उससे पहले उन वस्तुओं पर साधु का न तो कोई अधिकार ही होता है और न कोई संबंध ही। जब तक भोजन बनाने में हिंसा होती रहती है तब तक वह भोजन साधु के लिए अकल्पनीय रहता है और उसके तैयार हो जाने के बाद भी जब तक गृहस्थ अपनी इच्छा से नहीं देता तब तक साधु ले नहीं सकता। क्योंकि अदत्त वस्तु लेना चोरी है, और वह साधु के लिए सर्वथा वर्जनीय है। अतएव उन वस्तुओं के साथ उसका संबंध गृहस्थ से उन्हें लेने के समय ही होता है, उससे पहले नहीं। इस प्रकार साधु खान-पान सम्बन्धी हिंसा से बचता है।

* हिंसा दो प्रकार की है–देश हिंसा और सर्व हिंसा। जिस असत् प्रयत्न से किसी व्यक्ति की आत्मा को कष्ट हो, वह देश-हिंसा है और जिस प्रयत्न से प्राण-नाश हो वह सर्व-हिंसा है। साधु के लिए दोनों प्रकार की हिंसा सर्वथा त्याज्य है।

* रात्रि में मुनि रजोहरण से जमीन को साफ कर चलते हैं, ताकि हिंसा से बचाव हो सके। पृथ्वी (मिट्टी) में जीव होते हैं। अत: साधु ताजी खोदी हुई मिट्टी को नहीं छूते, जब तक कि वह किसी विरोधी द्रव्य के संयोग से अचित्त (जीव रहित) न हो गई हो।

* कुएं का जल, नदी का जल, तालाब का जल, वर्षा का जल आदि पानी जीव सहित होता है। उसे कच्चा जल कहा जाता है, साधु ऐसा जल नहीं ग्रहण करते।

कच्चे जल को उबालने से या उसमें राख, चूना आदि पदार्थ डालने से वह पक्का बन जाता है। साधु को यदि ऐसे उबले हुए पानी या राख, चूना आदि मिले पानी का संयोग मिले तो वह ग्रहण करता है।

पक्का जल अचित्त–जीव रहित होता है। पक्के जल को व्यवहार में लाने का वैज्ञानिक आधार भी है। बीमारी फैलाने वाले सूक्ष्म कीटाणु या पानी में पनपने वाले कृमि आदि के अण्डे पक्के पानी में नहीं रहते।

* साधु तेजस्काय (अग्नि) का भी प्रयोग नहीं करता। वह उसका स्पर्श तक नहीं करता। वह भयंकर सर्दी में भी जलती हुई अग्नि के पास जाकर अपने शरीर को गर्म नहीं करता।

* हरे साग, सब्जी, फल आदि वनस्पतिकाय के जीव है। साधु उनका स्पर्श भी नहीं करता। अग्नि या विरोधी द्रव्यों के संयोग से वनस्पति अचित्त (जीव रहित) हो जाती है। अचित्त होने पर साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार जीवन पर्यन्त अहिंसा का पालन करना पहला महाव्रत है।

सत्य महाव्रत–दूसरे महाव्रत में असत्य बोलने का सर्वथा परित्याग किया जाता है। धर्म-रक्षा या प्राण-रक्षा के लिए मुनि असत्य नहीं बोल सकता। साधु ऐसा सत्य भी नहीं बोल सकता, जिससे किसी की आत्मा को कष्ट हो। मुनि अदालत में साक्षी नहीं दे सकता। सच्ची साक्षी देने से भी, दो में से एक व्यक्ति को अवश्य कष्ट होता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी असत् प्रवृति द्वारा कष्ट देना हिंसा है। हिंसात्मक-वचन असत्य है। हिंसा और असत्य का आचरण साधु के लिए वर्जनीय है।

अचौर्य महाव्रत–तीसरे महाव्रत में चोरी करने का सर्वथा त्याग किया जाता है। अधिकारी की आज्ञा के बिना साधु किसी भी मकान में ठहर नहीं सकता और वह अभिभावकों की तथा आश्रित

व्यक्तियों की अनुमति के बिना किसी को दीक्षा भी नहीं दे सकता। अधिकारी की आज्ञा के बिना उसका एक तृण भी नहीं ले सकता।

ब्रह्मचर्य महाव्रत–चौथे महाव्रत में मैथुन-अब्रह्मचर्य का सर्वथा परित्याग किया जाता है। साधु स्त्री जाति का स्पर्श तक नहीं कर सकता, चाहे उसकी वह माँ या बहिन ही क्यों न हो। साधु स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठ सकता।

अपरिग्रह-महाव्रत–पांचवें महाव्रत में परिग्रह का सर्वथा परित्याग किया जाता है। साधु आवश्यक धर्मोपकरण के सिवाय और किसी भी वस्तु का संचय नहीं करता। धर्मोपकरण पर भी ममता या मूर्च्छा नहीं करता।

प्रश्न–साधु के धर्मोपकरण, वस्त्र, पात्र और पुस्तकें परिग्रह क्यों नहीं?

उत्तर–जिस वस्तु का ग्रहण ममता-भरे मन से किया जाता है, उनका नाम परिग्रह है। साधु सिर्फ संयम-निर्वाह के लिए आवश्यक एवं परिमित वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करता है। वे उपकरण परिग्रह नहीं, प्रत्युत संयम में सहायक है। यदि उन्हें परिग्रह माना जाए तो फिर साधु के शरीर को परिग्रह क्यों न माना जाए? जैसे वस्त्र, पात्र परिग्रह है वैसे शरीर भी परिग्रह है। वस्त्र, पात्रों को परिग्रह माने और शरीर को परिग्रह न माने यह कैसे हो सकता है? शरीर अनिवार्य है अत: वह परिग्रह नहीं–यह उचित उत्तर नहीं। जो छोड़ा जा सकता है, वही परिग्रह है–परिग्रह की यह परिभाषा भी ठीक नहीं वास्तव में जहां मूर्च्छा (ममत्व) है, वही परिग्रह है। मुनि न तो लोभ से वस्त्रादि ग्रहण करता है, न उन पर ममता रखता है और न संचय ही करता है। अत: धर्मोपकरण परिग्रह नहीं।

रात्रिभोजन-विरति–इन पांच महाव्रतों के बाद एक छठा व्रत और है उसमें जीवन पर्यंत रात्रिभोजन का त्याग किया जाता है। रात्रि में कोई भी खाने-पीने की वस्तु पास रखना साधु के लिए निषिद्ध है। साधु रात्रि में कुछ भी खा-पी नहीं सकता है।

इन पांच महाव्रतों और छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत के साथ भगवान महावीर ने संयम की साधना में होने वाले प्रमाद और असावधानी का निवारण करने के लिए पांच समितियां और तीन गुप्तियों की भी व्यवस्था दी।

पांच-समितियां

ईर्या समिति–गति शुद्धि का विवेक

भाषा समिति–भाषा शुद्धि का विवेक

एषणा समिति–भोजन का विवेक

आदान निक्षेप समिति–निक्षेप-उपकरण लेने-रखने का विवेक

उत्सर्ग समिति–मल-मूत्र के विसर्जन का विवेक

तीन गुप्तियां

मन गुप्ति–मन का संवर, केन्द्रित विचार या निर्विचार।

वचन गुप्ति–वचन का संवर, मौन।

काय गुप्ति–काय का स्थिरिकरण, शिथिलीकरण, ममत्व-विसर्जन।

भगवान ने देखा– अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि संयम-साधना की निष्पत्तियां हैं। उनकी सिद्धि के लिए साधनों का सम्यक् अभ्यास होना चाहिए।

भाषा समिति और वचन गुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है–जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा।

ईर्या, एषणा, उत्सर्ग, मनगुप्ति और कायगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है– जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा।

मनगुप्ति और कायगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है–जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा।

✲ उपसंहार

साधु के लिए यह पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों की व्यवस्था है। कुल यह तेरह नियम हो गए। तेरापंथ का एक अर्थ यह भी है कि जो इन तेरह नियमों का पालन करता है, वह तेरापंथी संत है।

✲ क्या आप जानते हैं?

✲ साधु स्नान, श्रृंगार आदि नहीं करते।

✲ साधु मस्तक, दाढ़ी व मूंछ के केशों का लुंचन कराते हैं।

✲ साधु प्रतिदिन दो बार प्रातः सूर्योदय से पूर्व व सायं प्रतिक्रमण व पलेवणा करते हैं।

✲ गृहस्थ साधु की सेवा करता है, वह सेवा हाथ-पांव दबाने वाली नहीं, मात्र उपासनात्मक सेवा होती है। अर्थात् पास बैठ धर्म का ज्ञान प्राप्त करना।

✲ साधु पदयात्री होते हैं, वे अपना निजी सामान स्वयं उठाकर चलते हैं।

✲ साधु का शयन गद्दा आदि पर नहीं होता अपितु वे भूमि पर गत्ता, आसन बिछा कर ही विश्राम करते हैं।

✲ साधु अपने कपड़ों का प्रक्षालन आदि कार्य स्वयं करते हैं।

✲ मुनि दीक्षा जीवन-पर्यंत ली जाती है, न कि 5, 10, 25 वर्ष के लिए।

पाठ-4 नव-तत्त्व

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे जीव और अजीव–इन दो तत्त्वों में समा जाते है। मूलतः तत्त्व दो हैं–जीव और अजीव। इन्हें समझने के लिए जैन दर्शन में दो पद्धतियां काम में ली गई–जागतिक (जगत-रचना) और आत्मिक (आत्म साधना)। जहां जागतिक पक्ष का विवेचन हुआ, वहां छः द्रव्यों की चर्चा की गई और जहां आत्मिक पक्ष का विवेचन हुआ, वहां नौ-तत्त्वों पर चर्चा हुई।

*** तत्त्व**

तत्त्व का अर्थ है–पारमार्थिक वस्तु या अस्तित्ववान पदार्थ तथा मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ का ज्ञान। संख्या की दृष्टि में तत्त्व नौ है–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष।

*** जीव-अजीव**

जीव–जिसमें चैतन्य हो, जानने की प्रवृत्ति हो, सुख-दुख का संवेदन हो, वह जीव है।

अजीव– जिसमें चैतन्य गुण का सर्वथा अभाव हो, वह जड़ पदार्थ अजीव है।

जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व है बाकी के तत्त्व तो इनकी अवस्थाएं है। जीव और अजीव की अवस्थाएं बदलती रहती है फिर भी उनके चैतन्य गुण और अचैतन्य गुण का विनाश नहीं होता। जैसे–सोने को गलाकर उसके कड़े-कंगन आदि अनेक प्रकार के आभूषण बनाने पर भी उसका नाश नहीं होता, केवल उसके रूप बदलते हैं।

*** पुण्य-पाप**

पुण्य–शुभ कर्म पुद्गलों का नाम पुण्य है।

पाप–अशुभ कर्म पुद्गलों का नाम पाप है।

जो सुख का निमित्त बनता है वह पुण्य है और जो दुःख का निमित्त बनता है वह पाप है। पुण्य कोई सुख नहीं देता और पाप कोई दुःख नहीं देता। ये सुख और दुःख के निमित्त बनते है। पुण्य-पाप स्वयं-कृत होते हैं, अपने किए हुए होते हैं। ये पर-कृत नहीं होते।

दृष्टांत की भाषा में पुण्य और पाप, पथ्य-अपथ्य भोजन के समान हैं। जैसे जीव के पथ्य-भोजन घटे और अपथ्य भोजन बढ़े तो रोग बढ़ता है और आरोग्य घटता है। जब अपथ्य भोजन घटे, पथ्य-भोजन बढ़े तब आरोग्य बढ़ता है और रोग घटता है। पथ्य-अपथ्य दोनों प्रकार के भोजन के बिना मृत्यु हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब जीव के पुण्य घटे, पाप बढ़े, तब सुख घटता है और दुख बढ़ता है। जब पुण्य बढ़े, पाप घटे तब सुख बढ़ता है और दुख घटता है। पुण्य-पाप दोनों के छूटने से मुक्ति होती है।

❊ स्वतंत्र नहीं होता पुण्य का बंध

प्रश्न–पुण्य की उत्पत्ति स्वतंत्र है या नहीं? धर्म के बिना पुण्य का बन्ध होता है या नहीं?

उत्तर–आत्मा की जितनी क्रिया होती है, उसके दो प्रकार हैं–अशुभ एवं शुभ। अशुभ क्रिया से पाप-कर्म का बन्ध होता है और शुभ क्रिया से दो कार्य होते हैं–एक मुख्य, दूसरा गौण। शुभयोग की प्रवृत्ति से मुख्यतया कर्म-निर्जरा होती है और उसके प्रासंगिक फल के रूप में पुण्य कर्म का बंध होता है। यह पुण्य-बंध का स्वरूप है। उदाहरणस्वरूप एक आदमी खेती करता है, अनाज पैदा होता है, साथ-साथ खोखला भी होता है, पलाल भी होता है, तूड़ी भी होती है, घास भी होती है। ये सब खेती के साथ होते हैं, पर व्यक्ति खेती किसलिए करता है, अनाज के लिए करता है, पलाल आदि के लिए नहीं करता है? अनाज के साथ-साथ में तूड़ी, पलाल, भूसा आदि भी हो जाते हैं। वैसे ही आदमी धर्म का आचरण करता है निर्जरा के लिए। वह निर्जरा के लिए शुभ योग की प्रवृत्ति करता है, साथ-साथ पुण्य का बंध भी होता है। पुण्य का बंध प्रासंगिक होता है, स्वतंत्र नहीं होता। मुनि को दान दिया, शुभ योग की प्रवृत्ति हुई और साथ में पुण्य का बंध भी हो गया।

अब इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि अशुभ प्रवृत्ति से तो पुण्य का बन्ध होता ही नहीं और जहां कहीं शुभ प्रवृत्ति होगी वहां निर्जरा अवश्य होगी। निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है, अतः वह धर्म है। इसके सिवाय कोई भी ऐसा स्थान नहीं रह जाता है, जहां धर्म के साहचर्य के बिना पुण्य का बन्ध होता हो। यह भी निश्चित है कि शुभ या अशुभ प्रवृत्ति के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता। अतः धर्म के बिना पुण्य नहीं–यह बात सैद्धांतिक एवं तार्किक–उभय दृष्टि से संगत है।

प्रश्न–कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि मिथ्यात्वी धर्म नहीं कर सकता, परन्तु पुण्य बांधता है–इसका समाधान कैसे होगा?

उत्तर–आत्मा का वह परिणाम धर्म ही है, जो आत्मा को उज्ज्वल बनाता है। मिथ्यात्वी शुभ क्रिया करता है। उससे कर्म अलग होते हैं। कर्म अलग होने से आत्मा उज्जवल होती है, इसलिए उसकी शुभ क्रिया धर्म है। यदि मिथ्यात्वी के आत्मा की उज्जवलता न मानी जाए तो फिर आत्मा के उज्जवल हुए बिना वह मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वी कैसे बन सकता है?

❊ आश्रव-संवर

आश्रव–कर्म ग्रहण करने वाला आत्मपरिणाम आश्रव है। अर्थात् जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण (प्रवेश) होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। जैसे–

❊ तालाब के नाला होता है, हवेली के द्वार होता है, नौका के छेद होता है, उसी प्रकार जीव के आश्रव होता है।

❊ जिस प्रकार तालाब और नाला, हवेली और द्वार, नौका और छेद एक है, उसी प्रकार जीव और आश्रव भी एक है। आश्रव जीव का परिणाम है, इसलिए वह जीव है।

❊ जिसके द्वारा पानी आए वह नाला है, किंतु पानी नाला नहीं। जिसके द्वारा मनुष्य आए वह द्वार है, किंतु मनुष्य द्वार नहीं। जिसके द्वारा पानी आए वह छेद है, किंतु पानी छेद नहीं। ठीक इसी प्रकार जिसके द्वारा कर्म आए वह आश्रव है, किंतु कर्म आश्रव नहीं। कर्म और आश्रव अलग-अलग है, एक नहीं दो है। सारांश में कर्म बंध के जितने द्वार हैं–निमित्त हैं, वे सब आश्रव हैं।

संवर–कर्म निरोध करने वाला आत्म परिणाम संवर है। अर्थात् संवर आत्मा की वह परिणति है जिससे आश्रव का निरोध होता है। दृष्टांत की भाषा में समझे तो जैसे–

❊ तालाब का नाला रोका जाता है, हवेली का द्वार बंद किया जाता है, नौका का छेद रोका जाता है, ठीक उसी प्रकार जीव के आश्रव रोकना संवर है।

जब तक जीव के आश्रव द्वार खुला रहेगा, तब तक कर्म आने का दरवाजा भी खुला है। इसे बंद करते ही अर्थात् संवर होते ही नए कर्म आने अपने-आप बंद हो जाते है और पुराने कर्म निर्जरा के द्वारा क्षीण होने लगते है। इस दृष्टि से जीव की सांसारिक दशा से मुक्ति संभव है।

❊ निर्जरा-बंध

निर्जरा–नौ तत्त्वों में सातवां तत्त्व है–निर्जरा। यह आत्मा और कर्मों के बंधन को तोड़ने की प्रक्रिया है। जब तक बंधन, तब तक संसार। संसार से छुटकारा पाने के लिए बंधन का विच्छेद आवश्यक है। इसलिए कहा गया–**(तपसा कर्म विच्छेदात्मनैर्मल्यं निर्जरा) तपस्या के द्वारा कर्मों का बंधन विच्छेद होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।** तप निर्जरा का कारण है इसलिए कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। निर्जरा तत्त्व को दृष्टांत की भाषा में समझे तो जैसे–

❊ तालाब का पानी मोरी से निकाला जाता है, हवेली का कूड़ा-कर्कट साफ किया जाता है। नौका का पानी, उलीच-उलीच कर निकाला जाता है, वैसे ही शुभ प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों को अलग कर आत्मा को उज्जवल बनाना निर्जरा है।

प्रश्न–शुभ योग से निर्जरा होती है और निर्जरा से मुक्ति होती है, परन्तु शुभ योग के साथ-साथ शुभ कर्मों (पुण्य) का बंध भी चालू रहता है तब मुक्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर–आत्मा कर्म से इतनी आवृत है कि एक साथ उसकी मुक्ति नहीं होती। क्रमशः प्रयत्न करते-करते जैसे-जैसे निर्जरा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा विशुद्ध बनती जाती है। आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध मुख्यतः कषाय एवं योग की सहायता से होता है। जब कषाय प्रबल होता है तभी कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक संख्या में चिपकते हैं, अधिक काल तक रह सकते हैं और तीव्र फल देते हैं। जब कषाय निर्बल हो जाता है तब उसका बंधन भी बलवान नहीं होता ।

प्रश्न–शुभ योग मुक्ति में साधक है या बाधक?

उत्तर–वह साधक भी है और बाधक भी। शुभ योग से निर्जरा होती है, अतः मुक्ति का साधक है और शुभ योग से पुण्य बंधता है, अतः मुक्ति का बाधक है।

ईंधन जितना आर्द्र (गीला) होता है उतना ही प्रकाश के साथ-साथ धुआं भी रहता है। ठीक उसी तरह जब तक आत्मा के कषाय और योग आश्रव प्रबल होते हैं तब तक कर्म का बंध भी प्रबल होता है। जब कषाय का नाश हो जाता है तब अशुभ कर्म का बंधन तो बिल्कुल ही रुक जाता है और जो शुभ-कर्म बंधता है वह भी इतनी कम स्थिति का बंधता है कि पहले समय में बंधता है, दूसरे समय उदय में आ जाता है और तीसरे समय में नष्ट हो जाता है। इसलिए आत्मा की मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती।

आत्मा की मुक्ति होने में दो बाधाएं हैं–

1. कर्म का बंध होते रहना।

2. बंधे हुए कर्मों का क्षय नहीं होना।

बारहवें गुणस्थान में चार आश्रव तथा अशुभ योग आश्रव का निरोध हो जाता है, पाप कर्म का बंध होना रुक जाता है। केवल शुभ-कर्म का बंध रहता है, वह भी अति अल्पस्थिति का (दो समय की स्थिति का) होता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी सर्वथा निरोध हो जाता है। योग का निरोध होने से शुभ कर्म का बंध भी रुक जाता है, अवशिष्ट कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा मुक्त हो जाती है।

बन्ध–आत्मा के साथ शुभ-अशुभ कर्मों का सम्बन्ध होना बंध है।

बन्ध शब्द का अर्थ है–बन्धन में लेना। आत्मा के संदर्भ में जीव और कर्म का, दूध-पानी की तरह परस्पर एकीभाव होना बंध है। न तो दूध में पानी मिलता है और न पानी में दूध, किंतु दोनों परस्पर एकमेक हो जाते है। इसी प्रकार न तो जीव के प्रदेशों से कर्मपुद्गलों का संबंध होता है और न कर्मपुद्गलों से आत्म प्रदेश संबंधित होते हैं। आत्म प्रदेश और कर्म परमाणु दोनों आपस में घुल-मिल जाते हैं जैसे–तेल और तिल, घी और दूध, धातु और मिट्टी आपस में मिले हुए हैं, वैसे ही जीव और कर्म का आपस में मिलना बंध है।

बंध शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है ।

प्रश्न–बंध और पुण्य-पाप में क्या अन्तर है?

उत्तर–पुण्य-पाप शुभ-अशुभ कर्म की उदीयमान अवस्था (उदय में आने वाली) है और बंध पुण्य-पाप की बध्यमान अवस्था (आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का बंधन) है।

जब तक कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ बंधे हुए सत्ता रूप में विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। यह अवस्था बंध है। जब शुभ कर्म उदय में आते है, तब आत्मा को सुख मिलता है और कर्मों की यही उदयावस्था पुण्य है। जब अशुभ कर्म उदय में आते हैं तब आत्मा को दुःख होता है और कर्मों की यही उदयावस्था पाप है।

❊ मोक्ष

मोक्ष–अपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना निर्जरा है और पूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना अर्थात् सब कर्मों से छूट जाना अपने आत्म-स्वरूप में अवस्थित होना मोक्ष है। जैसे–एक धूल से भरी टेबल है, हवा आदि के झोंके से उसके किनारों में से धूल हट गई। जिससे उस टेबल के किनारे दिखने लगे। यह निर्जरा की अवस्था है और फिर तेज हवा के झोंके से पूरी टेबल से धूल हट गई, यह मोक्ष की अवस्था है। जीव के कर्म रहित होने को हम दृष्टांत की भाषा में समझे तो जैसे–कोल्हू आदि के द्वारा तेल खल रहित होता है, मन्थनी आदि के द्वारा घी छाछ रहित होता है, अग्नि आदि के द्वारा धातु मिट्टी रहित होती है, वैसे ही तप, संयम आदि के द्वारा जीव का सर्वथा कर्म रहित होना मोक्ष है।

सांसारिक जीवन संघर्षमय है, कोलाहलमय है। वह पग-पग पर दुःख और विपत्तियों से भरा हुआ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के द्वारा हम ऐसी स्थिति में पहुँच सकते हैं, जहां परम शान्ति है। उसे पाकर जीव कृत-कृत्य हो जाता है। यही सुख की परम सीमा है। यही परम गति है। यही मुक्ति है, मोक्ष है, निर्वाण है।

कुछ लोक स्वर्ग को ही सुख की अवधि मान बैठते हैं । उनकी दृष्टि में स्वर्ग-सुख ही परम सुख है, परन्तु उस सुख का भी नाश होता है, अतः जैन दर्शन उसे परम-सुख नहीं मानता। देवताओं की आयु हमारी अपेक्षा बहुत लम्बी है फिर भी एक दिन उसका अन्त होता ही है। जिस पुण्य-बंध से स्वर्गलोक मिलता है, उसका भोग द्वारा क्षय हो जाने पर जीव स्वर्गलोक से च्युत होकर पुनः हमारे ही लोक में जन्म लेता है। अतः पूर्ण सुख चाहने वाले स्वर्ग-सुख को परम सुख नहीं मान सकते।

हम तो ऐसा सुख चाहते हैं, जिसका कभी अंत न हो, जिसमें दुःख की किंचित् भी मिलावट न हो और जिससे बढ़कर दूसरा कोई भी सुख न हो। ऐसा अनन्त सुख सिवाय मुक्ति के और कहीं नहीं मिल सकता।

कुछ लोगों की मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष 'महाप्रलय' तक संसार में नहीं लौटते अर्थात् उनकी वह सुखमय स्थिति केवल 'महाप्रलय' तक ही स्थिर रहती है। महाप्रलय के बाद जब सृष्टि पुनः उत्पन्न होती है तब मुक्त जीव भी संसार में लौट आते हैं।

इस मान्यता के अनुसार यदि मुक्ति की अवधि मान ली जाए तब तो स्वर्ग और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रह जाता। हमारी आयु की अपेक्षा देवताओं की आयु बहुत लम्बी है और देवताओं की आयु की अपेक्षा ऐसे मुक्त जीवों की आयु बहुत लम्बी है। इससे तो मुक्त जीवों का सुख भी अवधि-सहित ठहर जाता है। एक न एक दिन उनके सुख की भी समाप्ति हो जाती है। ऐसी दशा में तो अनन्त सुख की कल्पना भी जीव के लिए स्वप्नवत् है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीव अनन्तकाल तक भटकता ही रहेगा, उसका भटकना कभी बंद नहीं होगा। उसे कभी भी अनन्त सुख नहीं मिलेगा।

जैन दर्शन के अनुसार अनन्त जीव मुक्त हो चुके हैं, अनन्त जीव मुक्त होंगे। संसार में अनन्त जीव हैं और अनन्त जीवों की मुक्ति होने पर भी अनन्त जीव रह जाएंगे। संसार का अंत कभी नहीं होगा। वह अनादि और अनन्त है। गणित के विद्यार्थी को यदि पूछा जाए कि अनन्त संख्या में से यदि अनन्त

की बाकी निकाली जाए तो शेष कितने रहेंगे? जबाब मिलेगा, अनन्त ही शेष रह जाएगा। फिर अनन्त जीवों वाला संसार खाली कैसे रहेगा?

अखिल विश्व के जीवों की संख्या से यदि मुक्त होने वाले जीवों की तुलना की जाए तो वह समुद्र के जल में बूंद के समान भी नहीं ठहरेगा। ऐसी हालत में यह शंका करना कि जीवों के मुक्त होने का क्रम बराबर जारी रहने एवं मुक्त जीवों के पुनः संसार में न लौटने पर सांसारिक जीवों की संख्या एक दिन समाप्त हो जाएगी, ठीक वैसा ही है जैसे यह शंका करना कि एक चींटी के जल उलीचते रहने से समुद्र का जल एक दिन समाप्त हो जाएगा।

जैन सिद्धांत के अनुसार सब कर्मों के सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिनके कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं, वे जीव कर्मों के अभाव में संसार में पुनः आ ही कैसे सकते हैं? यदि वे पुनः संसार में आएं तो फिर कहना होगा कि वे मुक्त नहीं हैं।

*** उपसंहार**

मुख्यतया तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। किन्तु मोक्षसाधना के रहस्य को बतलाने के लिए उनके नौ भेद किए गए हैं। इन नौ भेदों में प्रथम भेद जीव का है, अन्तिम भेद मोक्ष का। बीच के भेदों में मोक्ष की साधक-बाधक अवस्थाओं का वर्णन है।

नव-तत्त्व को समझने से यह स्पष्ट होता है कि पुण्य-पाप कर्मपुद्गल के पर्याय है, अतः अजीव है और बंध भी कर्मों का होता है इसलिए वह भी अजीव है। आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव के भाव है अतः जीव है। इस प्रकार नव-तत्त्व में पांच जीव और चार अजीव हैं।

नव-तत्त्व की व्याख्या को हम एक संक्षिप्त उदाहरण से समझे जैसे—

* जीव एक तालाब है।

* अजीव अतालाब रूप है।

* पुण्य और पाप तालाब से निकलते हुए पानी के समान है।

* आश्रव तालाब का नाला है।

* नाले को बंध कर देना संवर है।

* उलीचकर या मोरी से पानी निकालना निर्जरा है।

* तालाब के अन्दर का पानी बंध है।

* खाली तालाब मोक्ष है।

नव तत्त्व की यह संक्षेप में व्याख्या है जिसमें जीव और अजीव का एक जोड़ा बनता है, पुण्य और पाप का दूसरा जोड़ा, आश्रव और संवर का तीसरा जोड़ा तथा निर्जरा और बंध का चौथा जोड़ा बनता है। इस प्रकार अलग-अलग जोड़े बने परन्तु मोक्ष का कोई जोड़ा नहीं है। संसार की भाषा में पति-पत्नी का जोड़ा होता है परन्तु ब्रह्मचारी का कोई जोड़ा नहीं होता। मोक्ष का भी कोई जोड़ा नहीं है, वह अकेला है। उसका संधान जीवन के चरम लक्ष्य का संधान है।

पाठ-5 सम्यक्त्व-मिथ्यात्व

जैन दर्शन में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है–सम्यक्त्व और मिथ्यात्व। सम्यक्त्व का अर्थ है–यथार्थ तत्त्व श्रद्धा। जो तत्त्व जैसा है उसे उसी रूप में जानने और समझने का नाम है–सम्यक्त्व। मिथ्यात्व का अर्थ है–तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा। जो बात जैसी हो, वैसी न मानकर विपरीत मानना मिथ्यात्व है।

जैन दर्शन में बताया गया–मिथ्यात्वी जीव आत्म विकास के द्वारा सम्यक्त्व की अवस्था को प्राप्त कर सकता है और सम्यक्त्वी जीव पुनः सम्यक्त्व के दूषण आदि के द्वारा मिथ्यात्व की अवस्था प्राप्त कर सकता है।

परन्तु एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होने पर, देर-सवेर जीव की मुक्ति निश्चित है और जब तक वह जीव मुक्त नहीं होता तथा सम्यक्त्व दृष्टि के रूप में ही अगर संसार में रहता है। तब तक वह जीव मनुष्य-देवता जैसी प्रशस्त गतियों व कुलों में उत्पन्न होता है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व आत्मविकास की सुदृढ़ पृष्ठभूमि है। इस पर आरूढ़ होकर ही आत्मा पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुँच सकती है। सम्यक्त्व जीव को संसार (संसरण) से मुक्ति की ओर ले जाने वाला है और संसार में परिभ्रमण का हेतु (कारण) है–मिथ्यात्व।

व्यवहारिक मिथ्यात्व के दस लक्षण है–

1. धर्म को अधर्म समझना	2. अधर्म को धर्म समझना
3. मार्ग को कुमार्ग समझना	4. कुमार्ग को मार्ग समझना
5. जीव को अजीव समझना	6. अजीव को जीव समझना
7. साधु को असाधु समझना	8. असाधु को साधु समझना
9. मुक्त को अमुक्त समझना	10. अमुक्त को मुक्त समझना।

*** धर्म-अधर्म**

जिससे आत्मस्वरूप की उन्नति एवं अभ्युदय हो, उसे धर्म कहते हैं। आत्मस्वरुप का पूर्ण उदय मोक्ष है। धर्म दो प्रकार का माना गया हैं–संवर और निर्जरा। संवर का अर्थ है–नए कर्मों के प्रवेश को

रोकना और निर्जरा का अर्थ है–पहले बंधे हुए कर्मों का नाश करना। संवर से आत्मिक उज्ज्वलता की रक्षा होती है और निर्जरा से आत्मा उज्जवल होती है। दूसरे शब्दों में संवर है–आत्मसंयम और निर्जरा है–सत्प्रवृत्ति।

इस प्रकार धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व है।

❊ मार्ग-कुमार्ग

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप–ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, साधन हैं, उपाय हैं। ज्ञान द्वारा आत्मा पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानती है। दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है। चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के प्रवेश को रोकती है एवं तप द्वारा पुराने कर्मों का विनाश कर आत्मा शुद्ध होती है, निर्मल होती है। इन चारों को मोक्षमार्ग न समझना और उनसे भिन्न को मोक्ष का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

❊ जीव-अजीव

जैन दर्शन में जीव-अजीव के अन्तर को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से बड़ी बारीकी से समझाया गया है। आत्मविकास की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति को जीव-अजीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना बहुत जरूरी है। जीव-अजीव का स्वरूप जाननेवाला ही संयम का स्वरूप जान सकता है।

जीव का लक्षण है–चेतना। चेतना-लक्षण ही जीव को अजीव से, जड़ पदार्थ से अलग करता है। जिसमें चेतना हो, वह जीव है और जिसमें चेतना न हो वह अजीव है। जीव में अजीव की श्रद्धा करना और अजीव में जीव का विश्वास करना मिथ्यात्व है।

❊ साधु-असाधु

साधु का लक्षण है–सम्पूर्ण रूप से पंच महाव्रतों का पालन करना। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पांच महाव्रतों का पालन करने वालों को असाधु और न करने वालों को साधु समझना मिथ्यात्व है।

❊ मुक्त-अमुक्त

आठ कर्मों से मुक्ति या छुटकारा पाना मुक्त आत्मा का लक्षण है। मुक्त कर्म-रहित होते हैं। जो कर्म रहित हैं, उनको कर्म सहित समझना और जो कर्म-सहित हैं, उनको कर्म रहित समझना मिथ्यात्व है।

धर्म, मार्ग, जीव, साधु और मुक्त–ये पांच तत्त्व आध्यात्मिक भवन के विशाल स्तम्भ है तथा जीव या आत्मा की मूलभित्ति है। धर्म और मार्ग–दोनों उसकी उन्नति के साधन है। साधु आत्मोन्नति का कार्य क्षेत्र है, क्योंकि धर्म या मार्ग की साधना साधु-अवस्था में ही सुचारू रूप से सम्भव है। जीवन में साधना का अन्तिम लक्ष्य या उत्कृष्ट फल मोक्ष है। ये व्यवहारिक मिथ्यात्व के दस प्रकार है।

❊ सम्यक्त्व

सम्यक्त्व एक गुण-प्रधान वस्तु है। वह किसी जाति, समाज एवं व्यक्ति-विशेष के कारण प्राप्त नहीं होता। केवल आत्मशुद्धि से, क्रोध आदि का उचित उपशम होने से ही प्राप्त होता है। इसलिए सम्यक्त्व की पहचान के लिए पांच गुणात्मक लक्षण बतलाए गए हैं–

1. **शम**–शांति।
2. **संवेग**–मुमुक्षा।
3. **निर्वेद**–अनासक्ति।
4. **अनुकम्पा**–करुणा।
5. **आस्तिक्य**–सत्यनिष्ठा।

सम्यक्त्व आत्मीय गुण है, वह हमें दिखाई नहीं देता, किन्तु जिस प्रकार धुंए के द्वारा अदृश्य अग्नि का पता चल जाता है। वैसे ही इन पांच लक्षणों से अदृश्य सम्यक्त्व को भी हम पहचान सकते हैं।

सम्यक्त्व के पांच दोष होते हैं। उनका आचरण करने वाले सम्यक्त्व से च्युत हुए बिना नहीं रहते। इसलिए सम्यक्त्वी इन दोषों से बचकर रहे–

1. **शंका**–लक्ष्य के प्रति सन्देह।
2. **कांक्षा**–लक्ष्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति।
3. **विचिकित्सा**–लक्ष्य-पूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता।
4. **परपाषण्ड प्रशंसा**–लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों की प्रशंसा।
5. **परपाषण्ड संस्तव**–लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों का परिचय।

मिथ्यावादियों की वैसी प्रशंसा और वैसा सम्पर्क जिससे मिथ्यात्व को प्रोत्साहन मिलें।

इन आत्मघाती दोषों से दूर रहने वाले व्यक्ति को सम्यक्त्वी समझना चाहिए। सम्यक्त्वी के पांच 'भूषण' होते हैं–

1. **स्थैर्य**–तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म में स्वयं स्थिर रहना और दूसरों को स्थिर करने का प्रयास करना।
2. **प्रभावना**–धर्मशासन के बारे में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना और उसके महत्त्व को प्रकाश में लाना।
3. **भक्ति**–धर्मशासन की भक्ति या बहुमान करना।
4. **कौशल**–तीर्थंकर द्वारा कथित तत्त्वों को समझने और समझाने में निपुणता प्राप्त करना।
5. **तीर्थसेवा**–साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका–ये चार तीर्थ है। इनकी यथोचित सेवा करना।

सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए छह स्थानों को जानना भी आवश्यक है, जैसे–

1. आत्मा है।

2. आत्मा द्रव्य रूप में नित्य है।

3. आत्मा अपने कर्मों की कर्त्ता है।

4. आत्मा अपने कृत कर्म-फल की भोक्ता है।

5. आत्मा कर्म फल से मुक्त होती है।

6. आत्मा के मुक्त होने के साधन हैं।

मिथ्यात्वी सब बातों में भ्रान्त रहते हैं एवं उनकी धार्मिक प्रवृतियां भी लाभदायक नहीं, ऐसा मानना एकान्त भ्रम है। बहुधा यह पूछ लिया जाता है कि अमुक व्यक्ति सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी, पर यह कोई पूछने का विषय नहीं, यह तो अनुभवगम्य है। निश्चयदृष्टि से तो निश्चय में तो दर्शन सप्तक (अनन्तानुबंधी-क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय त्रिक-मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय) के उदय से होने वाली विपरीत श्रद्धारूप आत्म परिणति मिथ्यात्व है और इनके उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होने वाली आत्म परिणति सम्यक्त्व है। पर इस बात को कोई ज्ञानी व्यक्ति ही समझ सकता है। साधारण व्यक्ति निश्चय की भूमिका पर खड़ा होकर तत्त्व बोध नहीं कर सकता। इसलिए यह अपेक्षा अनुभव की गई कि व्यवहार की भूमिका में भी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की पहचान करवाई जाए। इसलिए प्रस्तुत पाठ में व्यवहार में मिथ्यात्वी एवं सम्यक्त्वी को पहचानने के लिए भिन्न-भिन्न लक्षण बत्तलाए गए हैं। जिनमें जैसे लक्षण मिलते हैं, उन्हें वैसा ही समझ लेना चाहिए।

पाठ-6 भगवान ऋषभ

भगवान ऋषभ जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर हुए। उनसे पूर्व न कोई राजतंत्र था और न ही कोई धर्मतंत्र। इन सबका सर्वप्रथम प्रवर्तन भगवान ऋषभ ने किया। अनेक धर्मग्रंथों में इसका वर्णन प्राप्त होता है। भगवान ऋषभ का जन्म यौगलिक संस्कृति के अंत में हुआ था। उनके जन्म से पूर्व ही यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नहीं ले पाई। संक्रांति काल चल रहा था। एक ओर आवश्यकता पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएँ कुछ बढ़ी। इस स्थिति में आपसी संघर्ष और लूट-खसोट होने लगी। परिस्थिति की विवशता ने क्षमा, शांति, सौम्य आदि सहज गुणों में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। उन कुलों का एक मुखिया होता, वह 'कुलकर' कहलाता। उसे दण्ड देने का अधिकार होता। वह सब कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियंत्रण रखता। यह शासन-तंत्र का ही आदि-रूप था।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला भी नहीं होता और पूरा बुरा भी नहीं होता। उसमें भलाई और बुराई दोनों के बीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अंकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति के योग की सह-स्थिति का नाम है—परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियों की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की आवश्यकताएँ कम थीं। उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे । उस समय मनुष्य को संग्रह करने और दूसरों द्वारा अधिकृत वस्तु को हड़पने की बात नहीं मिली। ज्योंही जीवन की थोड़ी आवश्यकताएँ बढ़ी, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुए कि लोगों में संग्रह और अपहरण की भावना उभर आयी। जब तक लोग स्वयं शासित थे, तब तक बाहर का शासन नहीं था। जैसे-जैसे स्व-गत शासन टूटता गया, वैसे-वैसे बाहरी शासन बढ़ता गया। यह कार्य-कारणवाद या एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है।

कुलकर सात हुए हैं। उनके नाम हैं–विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव व नाभि।

राजतंत्र और दण्ड-नीति

कुलकर-व्यवस्था में तीन दण्ड-नीतियाँ प्रचलित हुई। पहले कुलकर विमलवाहन के समय में 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। 'हां! तूने यह क्या किया?' ऐसा कहना गुरुत्तर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान के समय भी यही नीति चली। तीसरे और चौथे–यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय में छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पांचवें, छठें और सातवें–प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय में 'धिक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार', मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया। उस समय के मनुष्य अतिमात्र ऋजु, मर्यादा प्रिय और स्वयं शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार–ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलों को जो कल्पवृक्षों से प्रकृतिसिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शांत और प्रसन्न थे, उनमें क्रोध का उदय होने लगा। वे आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा। जिन युगलों ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितियाँ न कभी देखी और न कभी सुनी–वे इन स्थितियों से घबरा गए। वे मिले, ऋषभकुमार के पास पहुंचे और मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा–'इस स्थिति पर नियंत्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।'

'राजा कौन होता है?' युगलों ने पूछा।

'ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हें दी। युगलों ने कहा–हममें आप सर्वाधिक समर्थ हैं। आप ही हमारे राजा बनें।'

ऋषभकुमार बोले–'आप मेरे पिताजी नाभि के पास जाइए, उनसे राजा की याचना कीजिए। वे आपको राजा देंगे।' वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट आए।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-संचालन के लिए नगर बसाया। वह बहुत विशाल था। उसका नाम रखा– विनीता (वर्तमान में अयोध्या)। ऋषभ प्रथम राजा बने, शेष जनता प्रजा बन गई। वे प्रजा का अपनी संतान की भांति पालन करने लगे। गाँवों और नगरों का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वास से हट भवनवासी बन गए। ऋषभ की क्रांतिकारी और जन्मजात प्रतिभा से लोग नए युग के निर्माण की ओर चल पड़े। उन्होंने राज्य की समृद्धि के लिए गायों, घोड़ों और हाथियों का संग्रह किया। असाधु लोगों पर शासन और साधु लोगों की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपना मंत्रिमण्डल

बनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे–इनके लिए उन्होंने आरक्षक दल स्थापित किया। राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होंने चतुरंग सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की। साम, दाम, भेद और दण्ड-नीति का प्रवर्तन हुआ। ऋषभ की दण्ड-व्यवस्था के चार अंग थे–

1. **परिभाषक**–थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना–क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।
2. **मंडलिबन्ध**–नजरबन्द करना–नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।
3. **बन्ध**–बंधन का प्रयोग।
4. **घात**–डंडे का प्रयोग।

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है, वैसे ही दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा। इन नीतियों में राजतंत्र जमने लगा और अधिकारी चार भागों में बंट गए। आरक्षक वर्ग के सदस्य 'उग्र', मंत्री परिषद् के सदस्य 'भोज', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रांतीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राजतंत्र का अंग बन गया। यह युगों तक विकसित होता रहा।

विवाह पद्धति का प्रारम्भ

नाभि अन्तिम कुलकर थे। उनकी पत्नी का नाम था–'मरुदेवा'। उनके पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया–'वृषभ' या 'ऋषभ'। इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था। युगल के एक साथ जन्म लेने या मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई। उन्हीं दिनों एक युगल जन्मा। उसके माता-पिता ने उसे ताड़ के वृक्ष के नीचे सुला दिया। वृक्ष का फल बच्चे के सिर पर गिरा और वह मर गया। उस युग की यह पहली अकाल मृत्यु थी। अब वह बालिका अकेली रह गई। थोड़े समय बाद उसके माता-पिता मर गए। उस एक अकेली बालिका को अन्य युगलों ने आश्चर्य की दृष्टि से देखा। वे उसे कुलकर नाभि के पास ले गए। नाभि ने उसे ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। ऋषभ युवा हो गए। उन्होंने अपनी सहोदरी सुमंगला के साथ सुनन्दा को स्वयं ब्याहा। यहीं से विवाह-पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त भी दूसरी कन्याओं से विवाह करने लगे।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग में लोगों की भोजन सामग्री थी–कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल। बढ़ती जनसंख्या के लिए कंद आदि पर्याप्त नहीं रहे और वनवासी लोग गृहस्वामी होने लगे। इससे पूर्व प्राकृतिक वनस्पति पर्याप्त थी। अब बोए हुए बीज से अनाज होने लगा।

वे पकाना नहीं जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभ के पास पहुंचे और अपनी समस्या का समाधान मांगा। ऋषभ ने अनाज को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभ अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल में अग्नि उत्पन्न हो नहीं सकती। एकान्त स्निग्ध और एकांत रुक्ष–दोनों काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नहीं होते।

समय के चरण आगे बढ़े। काल स्निग्ध-रुक्ष बना, तब वृक्षों की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई। वह फैली। वन जलने लगे। लोगों ने उस अग्नि को देखा और उसकी सूचना ऋषभ को दी। उन्होंने अग्नि का उपयोग और पाक-विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

शिल्पकला और व्यवसाय का प्रशिक्षण

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएँ सिखलाई। कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, क्रीड़ा-विधि आदि-आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पों का जन्म हुआ। अन्नपाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लौहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन आग की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई। उस समय ऋषभ ने व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है–अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्रों-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

पदार्थ बढ़े तब परिग्रह में ममता बढ़ी, संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात

पहले मृतकों की दाह-क्रिया नहीं की जाती थी, अब लोग मृतकों को जलाने लगे। पहले पारिवारिक ममत्व नहीं था, अब वह विकसित हो गया। इसलिए मृत्यु के बाद रोने लगे। उसकी स्मृति

में वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा भी चल पड़ी। नाग-पूजा और अन्य कई उत्सव भी लोग मनाने लगे। इस प्रकार समाज में कुछ परम्पराओं ने जन्म ले लिया।

धर्मतीर्थ-प्रवर्तन

कर्त्तव्य-बुद्धि से लोक व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभ राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अंतिम भाग में वे राज्य त्यागकर मुनि बने। मोक्ष धर्म का प्रवर्तन हुआ। हजार वर्ष की साधना के बाद भगवान ऋषभ को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका–इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि-धर्म के पांच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों का उपदेश दिया। साधु-साध्वियों का संघ बना। श्रावक-श्राविकाएँ भी बनीं। किन्तु बौद्धिक विकास न्यूनतम था। ज्ञान की दृष्टि से वे मन्द थे। कोई भी बात समझाने में पूरा परिश्रम करना पड़ता था, किन्तु समझने के बाद पालन करने में बड़े सुदृढ़ थे। उस समय आचरण-क्षमता पूरी थी। तभी उस समय के युग को ऋजु (सरल) जड़ कहा जाता था।

निर्वाण

भगवान अपने जीवन का अवसान निकट देखकर दस हजार साधुओं के साथ अष्टापद पर्वत (कैलाश) पर चढ़े। अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ मास जब शेष रहे, तब छह दिनों के अनशन (निराहार) तप के साथ शेष कर्मों का क्षय कर वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान ऋषभ ने पर्यंकासन में सिद्धत्व को प्राप्त किया। भगवान के निर्वाण का दिन माघ कृष्णा त्रयोदशी का था। भगवान् का समग्र आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का था।

प्रभु का परिवार

❊ गणधर	84
❊ केवलज्ञानी	20,000
❊ मनः पर्यवज्ञानी	12,750
❊ अवधिज्ञानी	9, 000
❊ वैक्रिय-लब्धि-धारी	20,600
❊ चतुर्दश पूर्वी	4,750
❊ चर्चावादी	12,650
❊ साधु	84000 (ऋषभसेन प्रमुख)
❊ साध्वी	3,00,000 (ब्राह्मी प्रमुख)
❊ श्रावक	3,05,000
❊ श्राविका	5,54,000

एक झलक–

❋ माता	मरुदेवा
❋ पिता	नाभि
❋ नगरी	विनीता (अयोध्या)
❋ वंश	इक्ष्वाकु
❋ गोत्र	कश्यप
❋ चिह्न	वृषभ
❋ वर्ण	स्वर्ण
❋ शरीर की ऊंचाई	पांच सौ धनुष्य
❋ यक्ष	गोमुख
❋ यक्षिणी	चक्रेश्वरी
❋ राज्य काल	तिरसठ लाख पूर्व
❋ छद्मस्थ काल	एक हजार वर्ष
❋ आयुष्य	चौरासी लाख पूर्व

पंच कल्याणक–

	तिथि	**स्थान**	**नक्षत्र**
❋ च्यवन	आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी	सर्वार्थसिद्ध से	उत्तराषाढ़ा
❋ जन्म	चैत्र कृष्णा अष्टमी	अयोध्या	उत्तराषाढ़ा
❋ दीक्षा	चैत्र कृष्णा अष्टमी	अयोध्या	उत्तराषाढ़ा
❋ केवलज्ञान	फाल्गुन कृष्णा एकादशी	पुरिमतालपुर	उत्तराषाढ़ा
❋ निर्वाण	माघ कृष्णा त्रयोदशी	अष्टापद पर्वत	अभिजित

जैनेतर साहित्य में ऋषभ का वर्णन

जैन साहित्य में भगवान ऋषभ का सविस्तार वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता ही है, वैदिक व बौद्ध साहित्य में भी उनका कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है। पुराणों में ऋषभ की वंश-परम्परा को इस तरह बताया गया है–ब्रह्माजी ने अपने समान प्रथम मनु को बनाया। फिर मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्नीध्र से नाभि व नाभि से ऋषभ हुए। भागवत पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवां अवतार ग्रहण किया था।

ऋषभ के परिचय के बारे में पुराण कहते हैं–नाभि की प्रिया मरुदेवा की कुक्षि से अतिशय कांति

वाले बालक ऋषभ का जन्म हुआ। राजा ऋषभ ने धर्मपूर्वक राज्य का शासन किया तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया। अपने वीर पुत्र भरत को उत्तराधिकार सौंपकर तपस्या के लिए पुलहाश्रम की ओर प्रस्थान कर दिया।

ऋषभ ने अपना राज्य भरत को दिया। तब से यह हिमवर्ष भारतवर्ष के रूप में प्रसिद्ध हुआ। वैदिक ग्रंथों में ऋषभ की साधना का सुंदर विवेचन मिलता है–ऋषभ देव ने कठोर चर्या व साधना का मार्ग स्वीकार किया। लंबी तपस्या से उनका शरीर कांटे की तरह सूख गया। उनकी शिराएं व धमनियां स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी। आखिर नग्नावस्था में उन्होंने महाप्रस्थान किया।

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ को पूर्व ज्ञान का प्रतिपादक व दुःखों का नाश करने वाला बताया है। वेद के मंत्रों, पुराणों व उपनिषदों में उनका प्रचुर उल्लेख हुआ है। इस देश का नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। यह विवेचन मार्कण्डेय पुराण, कर्म पुराण, अग्नि पुराण, वायु महापुराण, विष्णु पुराण आदि ग्रंथों में आता है। भारत के आदि सम्राटों में नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की गणना की गई है। ऋषभ व्रत पालन में दृढ़ थे। वे ही निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्त देव थे। धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।

पाठ-7 आगम युग के प्रभावक आचार्य

❊ आचार्य जंबू

गणधर सुधर्मा भगवान महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी थे। आचार्य जम्बू तीर्थंकर महावीर के द्वितीय उत्तराधिकारी थे।

ये राजगृह-निवासी सेठ ऋषभदत्त के पुत्र थे। इनकी माता का नाम धारिणी था। इनका जन्म विक्रम पूर्व 486 में हुआ था। इनका लालन-पालन अपार वैभव के बीच हुआ। जब आर्य जम्बू कुमार सोलह वर्ष के हुए तब आठ रूपवती कन्याओं के साथ इनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। दहेज में इन्हें निन्यानवें करोड़ की सम्पत्ति प्राप्त हुई। उसी दिन प्रभव नाम का प्रसिद्ध चोर अपने पांच सौ साथियों के साथ चोरी करने वहीं आया। जम्बूकुमार उस समय अपनी रूपसी पत्नियों के साथ वैराग्यमय वार्तालाप कर रहे थे। चोर प्रतिबुद्ध हुआ। उसने अपने साथियों को प्रतिबुद्ध किया। इस प्रकार आर्य जम्बू विक्रम पूर्व 469 में 527 व्यक्तियों के साथ (अपने माता-पिता, आठों पत्नियों तथा उनके माता-पिता, पांच सौ चोर और चोरपति प्रभव तथा स्वयं) सुधर्मा के पास दीक्षित हो गए। उस समय उनकी आयु सोलह वर्ष की थी। अठाईस वर्ष की आयु में ये आचार्य बने और छत्तीस वर्ष की आयु में इन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। ये चरम शरीरी थे। इनका पूरा आयुष्य 80 वर्ष का था। चौसठ वर्ष के श्रमण-पर्याय में ये चवालीस वर्ष तक युगप्रधान आचार्य के रूप में रहे। ये इस युग के अन्तिम केवली थे। इनका निर्वाण विक्रम पूर्व 406 में हुआ।

आचार्य जम्बू के साथ-साथ केवलज्ञान की परम्परा विछिन्न हो गई। यहां से श्रुतकेवली–चतुर्दशपूर्वी की परम्परा चली। छह आचार्य श्रुतकेवली हुए–प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र।

आगम की अधिकांश रचनाएं जंबू के प्रिय सम्बोधन से प्रांरभ हुई। 'जम्बू! श्री वीतराग भगवान महावीर से मैंने ऐसा सुना है।' आचार्य सुधर्मा का यह वाक्य आगम-साहित्य में अत्यंत विश्रुत है।

❊ आचार्य शय्यंभव

आचार्य शय्यंभव के व्यक्तित्व में असाधारण गुणों का विकास था। तीर्थंकर महावीर के वे चतुर्थ पट्टधर थे। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में उनका द्वितीय क्रम था। आचार्य शय्यंभव का ब्राह्मण

संस्कृति से श्रमण संस्कृति में प्रवेश पाने का घटना प्रसंग इतिहास का अत्यन्त रोचक पृष्ठ है। आचार्य शय्यंभव के गुरु आचार्य प्रभव थे। प्रभव प्रथम श्रुतधर आचार्य थे। शय्यंभव को आचार्य प्रभव से जैन धर्म का बोध प्राप्त हुआ। तदनन्तर शय्यंभव ने उनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की। आगमश्रुत व पूर्वश्रुत का प्रशिक्षण पाया। प्रभव से पूर्व की गुरुपरम्परा में सर्वज्ञ श्री सम्पन्न जम्बू और गणधर सुधर्मा हुए।

श्रुत सम्पन्न शय्यंभव को अपना ही दूसरा प्रतिबिम्ब मानते हुए आचार्य प्रभव ने उन्हें वी. नि. 75 (वि.पू. 395) में आचार्य पद से अलंकृत कर दिया। 28 वर्ष की युवावस्था में वे गृहत्याग कर मुनि बने।

शय्यंभव जब दीक्षित हुए तब उनकी नवयुवती पत्नी गर्भवती थी। एक दिन भट्ट पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम मनक रखा।

पत्नी ने मनक का अत्यन्त स्नेह से पालन किया। बालक आठ वर्ष का हुआ, उसने अपनी माँ से पूछा–'जननी! मेरे पिता का नाम क्या है?' भट्ट-पत्नी ने पुत्र के प्रश्न पर समग्र पूर्व वृतान्त सुनाते हुए बताया–'तुम्हारे पिता जैन मुनि बन गए है।' पितृदर्शन की भावना बालक में जगी। माता की आज्ञा लेकर बालक मनक स्वयं भट्ट की खोज में निकला। पिता-पुत्र का चम्पानगरी में अचानक मिलन हुआ। अपनी मुखाकृति से मिलती मनक की मुख मुद्रा पर शय्यंभव की दृष्टि केन्द्रित हो गई। अज्ञात स्नेह हृदय में उमड़ पड़ा। उन्होंने बालक के नाम, गांव आदि के विषय में पूछा। अपना परिचय देता हुआ मनक बोला– 'मेरे पिता शय्यंभव मुनि कहाँ है? क्या आप उन्हें जानते हैं?' बालक के मुख से अपना नाम सुनकर आचार्य शय्यंभव ने पुत्र को पहचान लिया और अपने को शय्यंभव का अभिन्न मित्र बताते हुए उसे अध्यात्म बोध दिया। बाल्यकाल के सरल मानस में संस्कारों का ग्रहण शीघ्र होता है। आचार्य शय्यंभव की प्रेरणा द्वारा उपदेश सुन मनक प्रभावित हो गया और आठ वर्ष की अवस्था में उनके पास मुनि बन गया।

आचार्य शय्यंभव हस्त रेखा ज्योतिष के जानकार थे। मनक का हाथ देखने से उन्हें लगा, बालक का आयुष्य बहुत कम रह गया है। ऐसी स्थिति में समग्र शास्त्रों का अध्ययन करना इसके लिए संभव नहीं है।

आचार्य शय्यंभव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने अल्पायुष्य मुनि मनक के लिए पूर्वों से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया। इस सूत्र के दस अध्ययन है। इसमें मुनि जीवन की आचार संहिता का निरूपण है। यह सूत्र उत्तरवर्ती नवीन साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

मुनि मनक को आचार्य शय्यंभव के सान्निध्य का लाभ दीर्घ समय तक प्राप्त न हो सका। संयम-पर्याय के छह महीने ही बीते थे कि मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया।

शय्यंभव श्रुतधर आचार्य थे, पर वीतराग नहीं बने थे। पुत्र-स्नेह उभर आया, उनकी आँखें मोह से गीली हो गई। यशोभद्र आदि मुनियों ने उनसे खिन्नता का कारण पूछा। आचार्य शय्यंभव ने बताया–'यह मेरा संसार-पक्षीय पुत्र था। पुत्र-मोह ने मुझे मोह विह्वल कर दिया है। यह बात पहले श्रमणों के द्वारा जान लिए जाने पर आचार्य पुत्र समझकर कोई इससे परिचर्या नहीं करवाता और यह

सेवाधर्म के लाभ से वंचित रह जाता। अतः इस भेद को आज तक मैंने श्रमणों के सामने उद्घाटित नहीं किया था। श्रुतधर शय्यंभव की गोपनीयता पर सभी श्रमण आश्चर्यचकित रह गए।

❊ आचार्य भद्रबाहु (प्रथम)

श्रुतधर परंपरा में आचार्य भद्रबाहु पांचवें श्रुतधर थे। जिनशासन उनके जैसे सामर्थ्यसम्पन्न, श्रुतसम्पन्न, अनुभवसम्पन्न व्यक्तित्व को पाकर धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया। आचार्य भद्रबाहु का विराट एवं प्रभावी व्यक्तित्व था। यही कारण है आचार्य जंबू के बाद दो भिन्न दिशाओं में बढ़ती हुई श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की शृंखला एक बिन्दु पर आ गई। दोनों ही परम्पराओं ने आचार्य भद्रबाहु को समान महत्त्व दिया है।

जैन शासन को वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के मध्यकाल में दुष्काल के भयंकर वात्याचक्र से जूझना पड़ा। उचित भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुतसम्पन्न मुनि काल कवलित हो गए। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी मुनि-चौदह पूर्वों का ज्ञाता नहीं बचा था। वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ को इससे गंभीर चिन्ता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण संघाटक नेपाल पहुँचा। करबद्ध होकर श्रमणों ने भद्रबाहु से प्रार्थना की–'संघ का निवेदन है कि आप वहाँ पधार कर मुनिजनों को दृष्टिवाद की ज्ञान राशि से लाभान्वित करें।' संघ की आज्ञा का सम्मान करते हुए भद्रबाहु ने कहा–'मैं वहाँ आने में असमर्थ हूँ। संघ मेधावी श्रमणों को यहाँ प्रेषित करें।' मैं उन्हें वाचना देने का प्रयत्न करूँगा।

महामेधावी, उद्यमवन्त स्थूलभद्र आदि पाँच सौ श्रमण, संघ का आदेश प्राप्त कर आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद की वाचना ग्रहण करने के लिए पहुँचे। आचार्य भद्रबाहु प्रतिदिन सात वाचनाएं प्रदान करते थे।

दृष्टिवाद का ग्रहण बहुत कठिन था। वाचना-प्रदान का क्रम मंदगति से चल रहा था। मेधावी मुनियों का धैर्य डोल उठा। एक-एक करके 499 शिक्षार्थी वाचना क्रम को छोड़कर चले गए। स्थूलभद्र मुनि यथार्थ में ही उचित पात्र थे। उनकी धृति अगाध थी, स्थिरयोग था। वे एकनिष्ठा से अध्ययन में लगे रहे। उन्हें कभी एक पद, कभी अर्ध-पद सीखने को मिलता, परन्तु वे निराश नहीं हुए।

आर्य स्थूलभद्र का अध्ययन क्रम चलता रहा। भद्रबाहु की महाप्राण ध्यान की साधना पूर्ण होने तक उन्होंने दो वस्तु कम दशपूर्व की वाचना पूर्ण कर ली थी–ध्यान साधना काल सम्पन्न होते ही आर्य भद्रबाहु पाटलिपुत्र लौटे।

स्थूलभद्र की संसारपक्षीय यक्षा आदि बहनें जो साध्वी बन चुकी थी। वे इनके दर्शनों के लिए वहाँ आई। विद्या का चमत्कार प्रदर्शन दिखाने के लिए आर्य स्थूलभद्र ने सिंह का रूप बना लिया। जैसे ही भद्रबाहु स्वामी को यह बात ज्ञात हुई, उन्होंने आगम-वाचना देना बन्द कर दिया। काफी अनुनय विनय के बाद उन्होंने चार पूर्वों की शाब्दिक वाचना दी।

इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी हुए और सूत्र की दृष्टि से आर्य स्थूलभद्र हुए।

❊ आचार्य स्थूलिभद्र

काम विजेता आचार्य स्थूलिभद्र को श्वेताम्बर परम्परा में अत्यन्त गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ। वे भगवान महावीर के आठवें पट्टधर थे व श्रुतधर परम्परा के वे अंतिम श्रुत केवली थे। दुष्काल के आघात से टूटती श्रुत-शृंखला को सुरक्षित रखने का श्रेय महास्थविर योगी स्थूलिभद्र की सुतीक्ष्ण प्रतिभा को है। जिनके लिए श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध श्लोक है–

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतम गणी।
मंगलं स्थूलिभद्राद्याः, जैन धर्मोस्तु मंगलं।।

मंगलकारक तीर्थंकर देव वीर प्रभु और गौतम के बाद आचार्य स्थूलिभद्र के नाम का स्मरण उनकी विशिष्ट प्रतिभा का सूचक है।

तीस वर्ष की आयु में, वी.नि.146 (वि.पू. 324) में उन्होंने आचार्य संभूतविजय के पास में दीक्षा ग्रहण की। स्थूलिभद्र विनयवान, गुणवान, बुद्धिमान श्रमण थे। एक दिन मुनि स्थूलिभद्र ने पूर्व परिचिता कोशा गणिका के भवन में साधना की दृष्टि से पावस बिताने की इच्छा अपने गुरु के समक्ष प्रकट की। आचार्य संभूत विजय ने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दी। मुनि अपने संकल्पित लक्ष्य की ओर चल पड़े। स्थूलिभद्र कोशा की उसी चित्रशाला में पहुँचे, जहाँ वे पहले बारह वर्ष रह चुके थे।

कोशा ने स्थूलभद्र का अभिनन्दन किया। स्थूलिभद्र ने कोशा से चित्रशाला में चतुर्मास बिताने के लिए आज्ञा मांगी। कोशा बोली–'प्राणदेव! आज आपके पधारने से मैं धन्य हो गई हूँ। यह चित्रशाला आपकी ही है। सहर्ष आप उसमें निवास करें।

गणिका कोशा की आज्ञा से मुनि स्थूलिभद्र का चित्रशाला में प्रवेश हुआ। जो कामस्थल था वह मुनि स्थूलिभद्र के पदार्पण से धर्म स्थल बन गया।

कोशा प्रतिदिन षट्रसयुक्त भोजन तैयार करती। बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित होकर स्थूलभद्र के सामने उपस्थित होती। विविध भाव-भंगिमाओं से नृत्य करती, वह यथासंभव उन्हें अपनी तरफ मुग्ध करने का प्रयत्न करती।

स्थूलिभद्र अपने व्रतों में हिमालय की भाँति अचल थे। उनके भीतर ब्रह्मचर्य का तेज चमक रहा था। कोशा के कामबाण सब विफल हो गए। वह स्थूलिभद्र की संयम साधना के सामने झुकी और एक दिन नतमस्तक होकर कहने लगी–'मुने! मुझे धिक्कार है। मैंने आपको आपके व्रतों से विचलित करने के लिए जो भी प्रयत्न किए हैं, उसके लिए आप मुझे क्षमा करें।

स्थूलिभद्र मुनि ने भी कोशा को धर्मोपदेश दिया। अध्यात्म का मर्म समझाया। कोशा भी जीवन विज्ञान व धर्म रहस्य समझकर व्रतधारण कर श्राविका बनी और विकल्प के साथ जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया।

पावस (चतुर्मास) सानन्द सम्पन्न हुआ। स्थूलिभद्र संयम की कसौटी पर खरे उतरे। नवनीत आग पर चढ़कर भी नहीं पिघला। काजल की कोठरी में रहकर भी अतुल मनोबली मुनि स्थूलभद्र बेदाग रहे। वेश्या को भी जैन श्राविका बना दिया और वे आचार्य संभूतविजय के पास लौट आए।

आचार्यश्री सात-आठ कदम चलकर स्थूलिभद्र के सामने आए। 'दुष्कर-महादुष्कर क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर काम विजेता स्थूलिभद्र का सम्मान किया।

द्वादश वर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो रही थी। ज्ञानसागर की इस महान क्षतिपूर्ति के लिए संघ के निर्णयानुसार वे नेपाल में आचार्य भद्रबाहु के पास विद्यार्थी बन कर रहे एवं उनसे समग्र चतुर्दशपूर्व की ज्ञान-राशि को अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण कर श्रुतसागर से टूटती दृष्टिवाद की सुविशालधारा को संरक्षण दिया। अर्थवाचना दस पूर्व तक ही वे उनसे ले पाए थे। अंतिम चार पूर्व की उन्हें केवल सूत्र पाठ की वाचना मिली।

❊ आचार्य वज्रस्वामी

वज्रस्वामी अंतिम दशपूर्वधर आचार्य थे। वे पदानुसार लब्धि, क्षीरास्रव लब्धि आदि के धारक, गगनगामिनी विद्या के उद्धारक, नानारूप निर्मात्री विद्या के स्वामी थे। दशपूर्वों की विशाल ज्ञानराशि के अन्तिम संरक्षक आर्यवज्र ही थे।

उनके बाद ऐसी क्षमता किसी को भी प्राप्त न हो सकी। महानिशीथ सूत्र के तृतीय अध्ययन में प्राप्त उल्लेखानुसार पंचमंगल श्रुतस्कंध को मूल सूत्रों के साथ नियोजित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया था। उससे पहले पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध (नमस्कार महामंत्र) एक स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित था। इस सूत्र की व्याख्या में कई निर्युक्ति भाष्य और चूर्णि ग्रंथ भी थे। कालक्रम से वे लुप्त होते गए।

वज्रस्वामी नौ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। जन्म के छः मास तक का समय माँ के संरक्षण में बीता। उसके बाद उनका पालन-पोषण गुरु नेश्राय में शय्यातर के घर पर हुआ। उनकी कुल आयु अट्ठासी वर्ष थी। मुनिपर्याय की कुल अस्सी वर्ष की काल स्थिति में लगभग छत्तीस वर्ष तक उन्होंने युगप्रधान पद पर रहकर धर्मसंघ का सफलतापूर्वक संचालन किया और अंत में द्वादशवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष की स्थिति में 500 श्रमणों के साथ समाधिपूर्वक अनशन किया।

विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी वी. नि.584 (वि.सं. 114, ई.सन् 57) में स्वर्गवासी हुए।

अतिशय विद्याओं के धनी विलक्षण लब्धिधारी आर्य वज्र जैन धर्म के सबल आधार स्तंभ थे।

❊ आचार्य आर्यरक्षित

अनुयोग-व्यवस्थापक आर्य रक्षित की गणना युग-प्रधान आचार्यों में है। पूर्वधर आचार्यों में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्यरक्षित अन्तिम सार्ध नौ पूर्वधर थे। उन्होंने जैनशासन में कई नई प्रवृत्तियों की स्थापना की और विकास के द्वार खोले।

आर्य रक्षित का युग विचारों का संक्रमण काल था। वह नई करवट ले रहा था। पुरातन परम्पराओं के प्रति जनमानस में आस्थाएं डगमगा रही थी।

आर्यरक्षित स्थितिपालक नहीं थे। वे स्वस्थ परंपरा के पोषक थे। क्रांतिकारी विचारों के वे सबल समर्थक भी थे। उनके शासन-काल में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनुयोग व्यवस्था का हुआ। आगम-

वाचना का यह विशिष्ट अंग है। उससे पहले आगमों का अध्ययन समग्र नयों एवं चारों अनुयोगों के साथ होता था। अध्ययन क्रम की यह जटिल व्यवस्था थी। अस्थिरमति शिष्यों का धैर्य डगमगा जाता था। आर्यरक्षित के युग में अध्ययन की नई व्यवस्था प्रारंभ हुई।

सीमंधर स्वामी द्वारा इन्द्र के सामने निगोद व्याख्याता के रूप में आर्यरक्षित की प्रशंसा हुई। जिससे प्रभावित हो, मथुरा में आर्यरक्षित की गहराइयों को जानने के लिए इन्द्रदेव का वृद्ध रूप में आगमन हुआ। वृद्ध की हस्त रेखा देखकर आर्य रक्षित ने उनके देव होने की घोषणा की। निगोद की सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर इन्द्र ने आर्यरक्षित की भूरी-भूरी प्रशंसा की। इस समग्र घटना का विस्तार आवश्यक निर्युक्ति मलयवृत्ति में उपलब्ध है।

आर्यरक्षित विविध क्षमताओं से सम्पन्न व आगम ज्ञान के अक्षय कोष थे। आगम- वाचना के लिए अनुयोग व्यवस्था की स्थापना इनकी जैन समाज को विशिष्ट देन है। आवश्यक निर्युक्ति में आर्यरक्षित को देवेन्द्र पूजित एवं अनुयोग-व्यवस्थापक बताया गया है।

❊ आचार्य कुंदकुंद

आचार्य कुंदकुंद का दिगम्बर परम्परा में गरिमामय स्थान है। अध्यात्म दृष्टियों को विशेष उजागर करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। श्रुतधर आचार्यों की परंपरा में भी उनको प्रमुख माना गया है। आचार्य कुंदकुंद के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उनकी उत्तरवर्ती परम्परा मूल संघ और कुंदकुंदाचार्य की परम्परा कहलाने में गौरव अनुभव करती है। श्वेताम्बर परंपरा में जो स्थान पूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र को दिया गया, वही महत्त्व दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद को मिला है। जैन धर्म का सुप्रसिद्ध एक ही श्लोक श्वेताम्बर परंपरा में आचार्य स्थूलभद्र के नाम के साथ और दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद के नाम के साथ स्मरण किया जाता है, वह श्लोक इस प्रकार है–

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमगणी।
मंगलं कुंदकुंदाद्याः (स्थूलभद्राद्या), जैन धर्मोस्तु मंगलं।।

तीर्थंकर महावीर और गणधर गौतम के बाद दिगम्बर परंपरा में आचार्य कुंदकुंद का उल्लेख उनकी महनीय महता का परिचायक है।

आचार्य कुन्दकुन्द उग्र विहारी थे। वे दुर्गम घाटियों और वनों में भी निर्भीक भाव से विहरण करते थे। उनके पास तप का तेज और साधना का बल था। उनका चिन्तन अध्यात्म प्रधान था।

कुंदकुंद को तीव्र तपश्चरण के परिणामस्वरूप चारण-लब्धि प्राप्त थी।

दर्शनसार में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य कुंदकुंद को महाविदेह में सीमंधर स्वामी से ज्ञानोपलब्धि हुई थी। वे वास्तव में अध्यात्म-दृष्टियों के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वों को तर्क-सुसंगत परिधान दिया।

उनकी दृष्टि में भावशून्य क्रियाएं सर्वथा निष्फल थी। इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति में उनका एक श्लोक है–

''भावरहिओ ण सिज्झई जइवि तवं चरई कोडिकोडीओ।
जम्मंतराई बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो।।''

जीव दोनों हाथ लटकाकर और वस्त्र त्याग कर करोड़ो जन्मों तक तपस्या (तपश्चर्या) करता रहे पर भाव-शून्यावस्था में उसे कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

❊ आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

आचार्य देवर्द्धिगणी का नाम जैन इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है। उन्होंने प्रकीर्ण आगम-ज्ञान को स्थायित्व प्रदान करने के लिए श्रुत-लेखन का महत्त्वपूर्ण कार्य अपनी मौलिक सूझ-बूझ से किया, उस कार्य को समय की घनी परतें भी ढक न सकेगी।

लोकश्रुति के आधार पर देवर्द्धिगणी सौराष्ट्र नरेश अरिमर्दन के राजसेवक कामर्द्धि क्षत्रिय के पुत्र थे। उनकी माता का नाम कलावती था। माता ने ऋद्धि सम्पन्न देव को स्वप्न में देखा था। उसी स्वप्न के आधार पर पुत्र को देवर्द्धि संज्ञा से अभिहित किया गया।

आगम-कार्य पर दुष्काल की काली घटाएं घिर आई। उस समय अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए एवं श्रुत की बहुत क्षति हुई। दुष्काल की समाप्ति के बाद वल्लभी में जैन संघ एकत्रित हुआ। विशिष्ट वाचनाचार्य, नानागुणालंकृत श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण श्रमण संघ के अध्यक्ष थे।

श्रमण-सम्मेलन में समग्र आगम-पाठों का श्रमणों की स्मृति से संकलन हुआ एवं श्रुत को स्थायित्व प्रदान करने हेतु उसे लिपिबद्ध किया गया। आगम-लेखन का कार्य आचार्य आर्यरक्षित के युग में भी अंशतः प्रारम्भ हो चुका था।

आचार्य स्कंदिल और आचार्य नागार्जुन के समय में भी आगम लिपिबद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं पर देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में समग्र आगमों का जो व्यवस्थित संकलन एवं लिपिकरण हुआ, वह अपूर्व था, अतः परम्परा से वह श्रेय आचार्य देवर्द्धिगणी को है।

वल्लभीनगरी में देवर्द्धिगणी प्रमुख श्रमण संघ ने वी. नि. 980 (वि. सं. 510) में आगमों को लिपिबद्ध किया था।

आगम-वाचन के समय स्कंदिली एवं नागार्जुनीय उभय वाचनाएं देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की थी। नागार्जुनीय वाचनाओं के प्रतिनिधि आचार्य कालक (चतुर्थ) थे। स्कंदिली वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी स्वयं थे। उभय वाचनाओं में पूर्ण समानता नहीं थी। देवर्द्धिगणी ने श्रुत संकलन कार्य में अत्यन्त तटस्थ नीति से काम किया। पूर्व वाचनाकार आचार्य स्कंदिल की वाचना को प्रमुखता प्रदान कर तथा नागार्जुनीय वाचना को पाठान्तर के रूप में स्वीकार कर उदारता और गंभीरता का परिचय दिया तथा जैन संघ को विभक्त होने से बचा लिया।

देवर्द्धिगणी ने दर्शन एवं न्याय के युग को आगमयुग के साथ अपनी साहित्य-धारा के माध्यम से जोड़ा। नंदीसूत्र इसी दिशा का एक प्रयत्न है।

जैनशासन आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का युग-युग तक आभारी रहेगा। आगम-लेखन कार्य से उन्होंने वीतराग-वाणी को दीर्घकालता प्रदान की है एवं जैन आगम निधि को समुचित संरक्षण दिया है। उनके इस प्रयत्न के अभाव में श्रुतनिधि का जो आज रूप प्राप्त है वह नहीं होता।

देवर्द्धिगणी अन्तिम पूर्वधर थे। उनके स्वर्गस्थ होने के साथ पूर्वज्ञान-धारा का लोप हो गया। देवर्द्धिगणी वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी में आगम-निधि के महान संरक्षक आचार्य थे।

गणाधिपति गुरुदेव तुलसी ने 'व्यवहार बोध' ग्रंथ में लिखा है–

जिनशासन के चिर जीवन का, आगम ही मौलिक आधार।
रहे सुरक्षित उसमें गणिवर, 'देवर्धी' का अति उपकार।।

शुभ भविष्य के प्रवर पृष्ठ पर, अगर नहीं होता आलेख।
अतुल अनुत्तर ज्ञान-शशि वह, बन जाती पानी की रेख।।

पाठ-8 आचार्य तुलसी

बीसवीं सदी के एक आलोकपुंज व्यक्तित्व का नाम है–आचार्य तुलसी। वे मानवता की धरती पर जीवन-मूल्यों की फसल उगाने वाले एक दिव्यदृष्टि-सम्पन्न महामानव थे। नैतिक मूल्यों में विश्वास रखने वाले लाखों लोगों की आस्था के केन्द्र थे।

सत्य की साधना और शोध में निरत एक तेजस्वी सन्त थे। व्यापक सोच और उदार दृष्टिकोण वाले जनप्रिय लोकनेता थे। परम्परा की दृष्टि से जैन श्वेताम्बर तेरापंथ आम्नाय के नवमें अधिशास्ता थे।

आचार्यश्री तुलसी का जन्म 20 अक्टूबर, 1914 को राजस्थान के लाडनूं कस्बे में हुआ। ओसवाल गोत्र के शाह झूमरमलजी उनके पिता थे। उनकी मातुश्री का नाम वदनांजी था। आचार्य तुलसी बचपन से ही मेधावी, कुशाग्रबुद्धि एवं अनुशासनप्रिय थे। इसलिए एक साधारण परिवार में जन्म लेकर भी उन्होंने अपने असाधारण विचारों और कार्यक्रमों से जीवन के प्रत्येक पक्ष तथा समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया।

ग्यारह वर्ष की बालवय में तुलसी ने सुप्रसिद्ध जैनाचार्यश्री कालूगणी से जैनमुनि दीक्षा स्वीकार की। गुरु की पवित्र सन्निधि में व्याकरण, कोश, तर्कशास्त्र, जैन-आगम, दर्शन आदि अनेक विद्या-शाखाओं का तलस्पर्शी अनुशीलन किया। लगभग बीस हजार पद्यपरिमाण ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर प्राचीन भारत की कण्ठीकरण की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। मात्र सोलह वर्ष की उम्र में उनका अध्यापन-कौशल मुखर हो उठा।

बाईस वर्ष की अल्पायु में मुनि तुलसी आचार्यपद पर अभिषिक्त हुए। तेरापंथ के नवम अनुशास्ता के रूप में साठ वर्षों तक हजारों साधु-साध्वियों तथा लाखों अनुयायियों का नेतृत्व दक्षता के साथ किया। एक सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी उनका कार्यक्षेत्र व्यापक था।

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक

गुलामी की जंजीरों से मुक्त भारत देश को 'असली आजादी अपनाओ' का घोष देकर 1 मार्च, 1949 को आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त,

वर्ण आदि से ऊपर उठकर नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के उद्देश्य वाला यह अणुव्रत अभियान घर-घर, गली-गली, गांव-गांव और देश के कोने-कोने तक पहुंचा। अणुव्रत का प्रथम अधिवेशन दिल्ली में समायोजित हुआ। उस समय न्यूयॉर्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम्स' (15 मई, 1950) की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी से आचार्यश्री और अणुव्रत को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति उपलब्ध हुई। अणुव्रत के माध्यम से आचार्य तुलसी ने व्यसन-मुक्ति, मानवीय एकता, राष्ट्रीय चरित्रनिर्माण एवं विश्व-शांति की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया।

महान यायावर सन्त

जैनमुनि पदयात्री होते हैं। आचार्य तुलसी ने देशव्यापी पदयात्राएं कीं। पंजाब से कच्छ तथा कोलकाता से कन्याकुमारी तक भारतभूमि को अपने कदमों से मापा। धर्मक्रान्ति, धर्म-समन्वय तथा नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना के उद्देश्य से आचार्य तुलसी ने लगभग साठ-पैंसठ हजार किमी. की विस्मयकारी पदयात्रा की। इस क्रम में वे श्रमिक की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन और संसद तक पहुंचे। इस दौरान उनका व्यापक जनसम्पर्क हुआ। आम आदमी के साथ तो उनका सम्पर्क हुआ ही, वे देश के प्रख्यात साहित्यकारों, सन्तों और विशिष्ट व्यक्तियों से भी मिले। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि कवि, जैनेन्द्र कुमार जैसे साहित्यकार, जयप्रकाश नारायण, विनोबा भावे, काका कालेलकर आदि प्रख्यात राजनीतिज्ञ और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, डॉ. राधाकृष्णन् जैसे मूर्धन्य नेताओं पर आचार्यश्री के व्यक्तित्व और विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा।

धर्मक्रान्ति के पुरोधा

आचार्य तुलसी धर्मक्रान्ति के प्रखर पुरोधा थे। वे उपदेश की अपेक्षा प्रयोग में अधिक विश्वास करते थे। इसलिए प्रवचन सुनना, माला फेरना, पूजा करना, मन्दिर जाना–इस अनुष्ठान-प्रधान धर्म को अभिनव वैज्ञानिक-प्रायोगिक रूप दिया। ग्रन्थों और पन्थों के दायरे से निकालकर उसे मानवता की वेदी पर प्रतिष्ठित किया। प्रामाणिकता, नैतिकता, संयम और अहिंसा-प्रधान मूल्यों को जीवनशैली के साथ जोड़ने का बोध दिया। उनके द्वारा प्रदत्त सर्वधर्मसद्भाव तथा धार्मिक सहिष्णुता का मन्त्र विविध धर्मावलम्बी भारतीय जनता के लिए सर्वदा अनुकरणीय है।

दलितों के मसीहा

क्रान्तिकारी विचारों के धनी आचार्यश्री तुलसी का हृदय करुणा से आप्लावित था। फलतः गांधी की भांति उन्होंने भी हरिजन-उद्धार और अस्पृश्यता-निवारण के लिए अथक प्रयास किया। संघर्षों की आंच में तपने के बावजूद आचार्य तुलसी ने दलितोत्थान कार्यक्रम को जारी रखा और युगधारा के प्रवाह को मोड़ दिया।

नारी जाति के उन्नायक

अशिक्षा, अन्धविश्वास और सामाजिक कुरूढ़ियों से जर्जर आधी दुनिया में प्राण फूंकने के लिए आचार्य तुलसी ने 'नया मोड़' नाम से एक अभियान चलाया। इसके अन्तर्गत पर्दा प्रथा,

बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवाओं का नारकीय जीवन आदि का खुलकर प्रतिकार किया, जिससे ये सब कुरूढ़ियां मृतप्रायः हो गईं। स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देकर उन्होंने नारी जाति में नए-नए उन्मेष पैदा किए।

साध्वी समाज की प्रबुद्धता और शैक्षिक प्रगति भी आचार्य तुलसी के सघन पुरुषार्थ की ही फलश्रुति है।

साहित्य एवं साहित्यकारों के सर्जक

आचार्यश्री बहुभाषी साहित्यकार थे। हिन्दी, राजस्थानी और संस्कृत भाषा में उन्होंने शताधिक ग्रन्थ लिखे। उनके द्वारा लिखित कालूयशोविलास राजस्थानी भाषा का उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। उसे पढ़ने वाले विद्वानों के अभिमत से वे महाकवि कालिदास से कम नहीं थे। आचार्यश्री की सृजन-चेतना का वैशिष्ट्य अपूर्व था। वे साहित्य के ही नहीं, साहित्यकारों के भी सृजक थे। उन्होंने अपने धर्मसंघ में साहित्यकारों की एक लम्बी कतार खड़ी कर दी, जिसमें आचार्य महाप्रज्ञ जैसे शिष्य भी शामिल थे।

जैन वाङ्मय के वाचनाप्रमुख

ढाई हजार वर्ष पूर्व महावीर ने त्रिपदी के माध्यम से जो सत्य दिया, गणधरों ने जिसका विस्तार किया, आचार्य तुलसी ने उस जैन वाङ्मय के सम्पादन का बीड़ा उठाया। सर्वप्रथम उज्जैन (1955) में उन्होंने इस अनुष्ठान की सिद्धश्री लिखी। उनके वाचनाप्रमुखत्व में आगमों पर वैज्ञानिक और असाम्प्रदायिक दृष्टि से विशद कार्य हुआ। आगम कार्य के जिस महान यज्ञ में आचार्यश्री ने पहली आहुति दी, वह आज भी आचार्यश्री महाश्रमण के सान्निध्य में अनवरत गति से चल रहा है। उन्होंने अपने जीवन में प्राथमिक रूप से करणीय कार्यों में आगम-सम्पादन को प्रथम पंक्ति में रखा और विशेष अवसरों के अतिरिक्त नियमित रूप से इस कार्य में समय का नियोजन किया।

मौलिक अवदान

आचार्य तुलसी स्वप्नदर्शी आचार्य थे। खुली आंखों से सपने देखना, उन्हें सफल करने के लिए संकल्पित होना और पुरुषार्थ की प्रज्वलित लौ से मंजिल तक पहुंचना उनकी नियति थी। उन्होंने अपनी तेजस्वी और यशस्वी अनुशासना में मौलिक अवदानों की कतार खड़ी कर दी–

* **प्रेक्षाध्यान** : साधना की वैज्ञानिक पद्धति
* **जीवनविज्ञान** : सर्वांगीण विकास का उपक्रम
* **समण श्रेणी** : संन्यास की नई परम्परा
* **जैन विश्व भारती** : प्राच्यविद्याओं के अध्ययन एवं अनुसंधान का केन्द्र
* **जैनविश्वभारती यूनिवर्सिटी** : जैन समाज का प्रथम विश्वविद्यालय
* **पारमार्थिक शिक्षण संस्था** : मुमुक्षु श्रेणी का प्रशिक्षण केन्द्र

इस प्रकार के अनेक कालजयी अवदानों के प्रति प्रणत भारत सरकार तथा कुछ विशिष्ट संस्थानों ने इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार, भारत ज्योति, वाक्पति आदि सम्मानों को समर्पित कर स्वयं को कृतकृत्य माना।

जिस समय उनका वर्चस्व शिखर पर था, उस समय (सन् 1994 में) उन्होंने छह दशकों के नवोन्मेषी नेतृत्व को त्यागकर, विसर्जन का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर आचार्य महाप्रज्ञ को धर्मसंघ का नेतृत्व सौंप दिया। सत्ता से ऊपर उठने के बाद भी उनकी जीवनयात्रा, ज्योति-यात्रा बनी रही। वे आजीवन जन-जन को अध्यात्म का आलोक बांटते रहे और मानवता की सेवा करते रहे।

23 जून, 1997 को सहसा वह अध्यात्म का महासूर्य अपनी आलोक-रश्मियों को समेटकर युग-पटल से तिरोहित हो गया।

आचार्य तुलसी गति, प्रकाश और ऊर्जा के पर्याय थे। शुभ्र श्वेत वस्त्रों में झांकता हुआ वह अद्भुत व्यक्तित्व, जिसकी आंखें बोलती थीं, वाणी देखती थी और मन सुनता था, वह आज भी जन-जन के मन-मन्दिर में समाया हुआ है।

पाठ-9 आचार्य महाप्रज्ञ

भारत की अध्यात्म-प्रधान वसुधा पर अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया और अपने आपको सत्य की खोज के लिए समर्पित कर दिया । इन्हीं ऋषि-महर्षि पुरुषों की शृंखला में बीसवीं सदी में जन्म लेने वाला एक मूर्धन्य व्यक्तित्व है आचार्य महाप्रज्ञ। उनका जीवन अनेक विशेषताओं का समवाय था। वे विश्व के महान संत, ऋतंभरा प्रज्ञा के धनी, उच्चकोटि के दार्शनिक, प्राच्य विद्याओं के विज्ञाता, अन्वेषक, चिंतक, सारस्वत कवि, महान साहित्य-स्रष्टा और युगीन समस्याओं के समाधायक पुरुष थे। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना आकर्षक था, उससे कई गुना अधिक आकर्षक था उनका आंतरिक व्यक्तित्व। वे अध्यात्म, अहिंसा और अनेकांत की पुनीत त्रिपथगा थे।

❊ जन्म : प्रकृति के अंचल में

बीसवीं और इक्कीसवीं सदी को अपने कर्तृत्व से प्रभास्वर बनाने वाले उस महामानव का जन्म राजस्थान के झुंझनू जिले के एक छोटे से कस्बे 'टमकोर' में हुआ। वि. सं 1977, आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी का दिन, चोरड़िया परिवार, पिता तोलारामजी एवं मां बालूजी के लिए नया उल्लास लेकर उदित हुआ। निरभ्र आसमान, शुद्ध हवा और स्वच्छ वातावरण में शिशु का पहला स्वागत प्रकृति ने किया। बालक का जन्म किसी बंद कमरे में न होकर खुले आकाश में हुआ। यह उसके असाधारण व्यक्तित्व की पहली सूचना थी।

❊ संन्यास के विकास पथ पर

दीक्षा नया जन्म है। गुरु नया जन्म ही नहीं, नया जीवन देते हैं। बालक नथमल ने साढ़े दस वर्ष की अल्पायु में अपनी मां के साथ अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी के पास दीक्षा ग्रहण कर नई यात्रा प्रारंभ की। प्रथम दिन ही विद्यागुरु एवं संरक्षक के रूप में मुनि तुलसी का योग बाल मुनि के सौभाग्य की श्रीवृद्धि का प्रबल निमित्त बन गया।

महाप्रज्ञ की संयम यात्रा निर्विघ्न आगे बढ़ने लगी। परमपूज्य कालूगणी एवं मुनि तुलसी की सजग देखरेख में अध्ययन एवं संस्कार निर्माण का धरातल मजबूत होता गया। विकास की नई

संभावनाएं आकार लेने लगी। आपने संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का अध्ययन किया। धातुकोश, हेमशब्दानुशासनम् का कुछ भाग एवं भिक्षुशब्दानुशासनम् को पढ़ा। जैन दर्शन, न्याय, योग-विद्या, आयुर्वेद एवं अध्यात्म के गंभीर ग्रंथों का पारायण किया। संस्कृत साहित्य, कर्मग्रंथ, काव्यानुशासन के साथ-साथ लेनिन और मार्क्स को पढ़ा। गहन एवं गंभीर ग्रंथों के स्वाध्याय से व्यापक चिंतन का विकास हुआ।

❊ यात्रा साहित्य-सृजन की

आचार्य महाप्रज्ञ की साहित्य-साधना अलौकिक थी। उन्होंने शाश्वत सत्यों को युगीन संदर्भों में प्रस्तुति दी। उन्होंने जहां संस्कृत भाषा में विपुल साहित्य का सृजन किया, वहीं हिन्दी भाषा में सैकड़ों ग्रंथों का प्रणयन कर साहित्य जगत को समृद्ध बनाया। उनके द्वारा प्रणीत महाकाव्य 'ऋषभायण' विद्वद् वर्ग में समादृत हुआ। उन्होंने तुकांत-अतुकांत, गद्य-पद्य दोनों विधाओं में कविताओं का सृजन किया। उनके द्वारा संस्कृत भाषा में तत्काल रचित श्लोकों की संख्या सैकड़ों में है। देश के बड़े-बड़े विद्या संस्थानों में महाप्रज्ञ जब आशु कविता करते तो बड़े-बड़े विद्वान विस्मय और श्रद्धा से अभिभूत हो जाते।

व्यक्ति शाश्वत नहीं होता। व्यक्ति को शाश्वत बनाते हैं उसके विचार। दर्शन, अध्यात्म, अहिंसा, अनेकांत, न्याय, योग, अर्थशास्त्र, स्वास्थ्य शास्त्र, राजनीति, समाजनीति, मनोविज्ञान, जीवनविज्ञान, प्रेक्षाध्यान, अणुव्रत, तेरापंथ, काव्य, कथा, जीवनवृत्त आदि अनेक विषयों पर आचार्य महाप्रज्ञ के मौलिक विचार पाठकों को आज भी नई खुराक देते हैं। उनके साहित्य में अध्यात्म और विज्ञान का सुंदर समन्वय है।

❊ प्रवचन-कौशल

विचार संप्रेषण का एक सशक्त माध्यम है–वक्तृत्व। श्रेष्ठ वक्तृत्व की मुख्य कसौटी है–श्रुतसंपन्नता। आचार्य महाप्रज्ञ श्रुतधर आचार्य थे। वे जब किसी विषय का समग्रता से एवं सूक्ष्मदृष्टि से विश्लेषण करते तो ऐसा लगता कि सैकड़ों पृष्ठ पढ़कर जितना ज्ञान नहीं होता, उतना ज्ञान एक प्रवचन सुनने से हो जाता है। उनकी भाषा साहित्यिक एवं शैली सरल और सरस है। वे युगीन समस्याओं का सही और सटीक समाधान देते। संस्कार चैनल के माध्यम से लाखों लोगों ने उनके प्रवचनों को सुना। अनेक लोगों ने अपने जीने की दिशा बदल दी। वे एक लोकप्रिय प्रवचनकार थे।

❊ कालजयी अभिलेख

आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने जागृत युगबोध और अतीन्द्रिय प्रज्ञा से युग को नए अवदान दिए। जैन आगमों के शोधपूर्ण संपादन में आचार्य महाप्रज्ञ की सूक्ष्म मेधा, व्यापक अध्ययन और बहुश्रुतता बहुत सहायक बनी। उनके द्वारा संपादित आगम प्राच्य विद्या की अमूल्य धरोहर है। प्राचीन आगम 'आयारो' पर भाष्य का आलेखन करने वाले आचार्य महाप्रज्ञ प्रथम व्यक्ति हैं। संस्कृत भाषा में सुविशाल ग्रंथ 'आचारांगभाष्यम्' भाष्य परंपरा के इतिहास का एक अपूर्व अभिलेख है।

❊ प्रेक्षाध्यान, अणुव्रत और जीवन विज्ञान

जैन परंपरा की विलुप्त ध्यान-पद्धति को 'प्रेक्षाध्यान' ध्यान पद्धति के रूप में पुनरुज्जीवित करके आचार्य महाप्रज्ञ ने युग को एक अमूल्य देन दी है। स्वयं द्वारा स्वयं की खोज में वे स्वयं प्रयोगशाला बने। इसीलिए प्रेक्षाध्यान पद्धति उनकी जीवन पोथी का ऐसा स्वर्णाक्षरांकित पृष्ठ बन गया है, जिसमें मानवीय चेतना के अभ्युदय का महान ध्येय निहित है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने जहां अणुव्रत का दार्शनिक स्वरूप प्रस्तुत किया, वहीं देश की भावी पीढ़ी को सशक्त, स्वस्थ एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए जीवन विज्ञान के माध्यम से सर्वांगीण विकास की परिकल्पना प्रस्तुत की। सैकड़ों-सैकड़ों शिविरों के दौरान चलने वाले प्रयोग एवं उनके सकारात्मक परिणाम इनकी उपयोगिता और महत्ता के स्वयंभू साक्ष्य बन रहे हैं। अहिंसक मूल्यों की प्रतिष्ठापना एवं हिंसक समस्याओं से संत्रस्त समाज, देश व विश्व में शांति की परिकल्पना को मूर्त्त रूप देने में अहिंसा प्रशिक्षण और स्वस्थ अर्थव्यवस्था के चिंतन ने सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा को नया आकार दिया।

❊ अर्हताओं का मूल्यांकन

आचार्य तुलसी ने वि.सं. 2001 में अग्रणी, 2004 में साझपति और 2022 में निकायसचिव बनाकर आपश्री की अर्हताओं का मूल्यांकन किया। वि.सं. 2035 के कार्तिक माह में आचार्य तुलसी ने 'महाप्रज्ञ' का महनीय अलंकरण प्रदान किया। 'महाप्रज्ञ अलंकरण' एक संकेत था शुभ भविष्य का । इस उपक्रम के तीन माह बाद वि. सं. 2035, माघ शुक्ला सप्तमी के दिन आचार्य श्री तुलसी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में 'महाप्रज्ञ' का मनोनयन किया। वि.सं. 2050 में अपने पद का विसर्जन कर युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। यह इतिहास की एक विरल घटना है। अब महाप्रज्ञ तेरापंथ की पवित्र आचार्य परंपरा से सीधे जुड़ गए। तेरापंथ की आचार्य परंपरा में सर्वाधिक आयु प्राप्त कर 90 के अंक का स्पर्श करने वाले तथा तेरापंथ श्रमण समुदाय में सर्वाधिक संयम पर्याय की अनुत्तर उपलब्धि का वरण करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे।

❊ अहिंसा यात्रा : एक उपलब्धि

जीवन के नौवें दशक में आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसक चेतना का जागरण और नैतिक मूल्यों का विकास-इन दो उद्देश्यों के साथ देश के अनेक प्रांतों में अहिंसा यात्रा की। इस यात्रा में हिन्दू-मुस्लिम विकास की दृष्टि से किए गए सघन प्रयास आचार्य महाप्रज्ञ की असीम करुणा और मानवीय एकता की अनुभूति का दिग्दर्शन कराने वाले थे। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान एवं जीवन विज्ञान के साथ-साथ अहिंसा प्रशिक्षण एवं रोजगार प्रशिक्षण का जो कार्य हुआ, उससे सुंदर भारत के अभ्युदय का सपना नया आकार लेने लगा।

अहिंसा यात्रा में विभिन्न संप्रदायों के 16 धर्मगुरुओं एवं राष्ट्रपति डॉ. कलाम के साथ देश की विभिन्न समस्याओं पर गहरा मंथन हुआ, जिसकी निष्पत्ति के रूप में सूरत अध्यात्म घोषणा पत्र तैयार किया गया। आचार्य महाप्रज्ञ ने समय-समय पर अनेक राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांप्रदायिक

समस्याओं के समाधान में सक्रिय भूमिका निभाई। अनेक राजनेताओं, धर्मगुरुओं, शिक्षाविदों, पत्रकारों के साथ संवाद किया। देश के तत्कालीन राष्ट्रपति एवं सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के साथ गहन विचार-विमर्श के बाद संयुक्त रूप से एक पुस्तक का निर्माण किया, जिसका नाम है The Family and the Nation। दोनों महापुरुषों का यह संयुक्त प्रयत्न इतिहास में अमिट यादगार बन गई।

❊ उपाधियों के बीच निरुपाधिक व्यक्तित्व

आचार्य महाप्रज्ञ व्यक्ति नहीं, विचार थे। उनके विचारों में मौलिकता, ज्ञान की गंभीरता और अनुभूति की प्रखरता थी। उनकी सूक्ष्मग्राही बौद्धिक दक्षता से प्रभावित होकर राष्ट्रकवि दिनकर ने महाप्रज्ञ के भीतर 'विवेकानन्द' का दर्शन किया। दिगम्बर परंपरा के प्रभावी व्यक्तित्व आचार्य विद्यानन्दजी ने 'जैन न्याय के राधाकृष्णन्' के रूप में वर्धापित किया। कविवर भवानीप्रसाद मिश्र ने महाप्रज्ञ को 'कबीर' के रूप में देखा, तो अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. नथमल टांटिया ने महाप्रज्ञ की पहचान 'सिद्धसेन' के रूप में की।

आचार्य महाप्रज्ञ को अनेक पुरस्कारों से नवाजा गया। आचार्य तुलसी ने उनको 'जैन योग के पुनरुद्धारक' के संबोधन से संबोधित किया। श्रद्धेय युवाचार्य श्री महाश्रमण के नेतृत्व में संपूर्ण संघ ने सन् 1999 में 'युगप्रधान' पद प्रदान किया। 'वाक्पति', 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता' 'लोकमान्य महर्षि', 'राष्ट्रीय सांप्रदायिक सद्भाव', 'धर्मचक्रवर्ती' 'महात्मा', 'विश्वशांति दूत' आदि अनेक उपाधियों से सम्मानित होकर भी वे सदा निरुपाधिक बने रहे।

आचार्य महाप्रज्ञ ने आठ दशक की सुदीर्घ साधना से सूक्ष्म रहस्यों को अनावृत किया। उनके जीवन का एक समाधायक सूत्र था–'रहो भीतर, जीओ बाहर'। जीवन का नौवां दशक संपन्नता की ओर था, दसवें दशक में प्रवेश की तैयारियां चल रही थी। न जाने कितनी आंखों में कितने सपने थे, पर नियति के साम्राज्य में कुछ और ही नियत था। अकस्मात् 9 मई 2010 की भरी दुपहरी में वे इस दुनिया से विदा हो गए। उनका भौतिक शरीर भले ही अदृश्य हो गया, पर उनका ज्ञान शरीर, यशः शरीर और अनुभव शरीर आज भी जीवित हैं। वे हमें विचारों की एक समृद्ध विरासत सौंपकर गए हैं। आने वाली शताब्दियां निःसंदेह उससे लाभान्वित होंगी और अपने आपको समृद्ध अनुभव करेंगी।

पाठ-10 जैन राजा

❊ तत्कालीन राजवंश

निर्ग्रन्थ शासन के साथ राजवंशों का घनिष्ठ संबंध रहा है। भगवान महावीर के जो भी संपर्क में आया वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उनकी पीयूष वर्षी वाणी को सुनने के लिए साधारण जन और सम्राट् सभी लालायित रहते थे।

❊ सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार)

सम्राट श्रेणिक भगवान महावीर के अनुयायी राजाओं में सर्वाधिक विश्रुत है। आगमों के अनेक स्थलों पर श्रेणिक का उल्लेख है। श्रेणिक पुत्र मेघकुमार, नन्दीषेण, वारिषेण आदि भगवान महावीर के संघ में दीक्षित हुए। श्रेणिक पुत्र आमात्य अभयकुमार ने भी निर्ग्रंथ शासन में मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। श्रेणिक की कई रानियों को इस धर्मसंघ में दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। चंपा नरेश दधिवाहन की पुत्री राजकुमारी चन्दनबाला महावीर के संघ में प्रथम साध्वी बनी तथा प्रवर्तनी पद पर नियुक्त हुई। प्रवर्तनी साध्वी चन्दनबाला ने छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व किया।

सम्राट् श्रेणिक जिन धर्म के प्रति अनन्य निष्ठावान था। वह क्षायक समयक्त्व का धनी था।

भव संतापहारिणी तीर्थंकर देव की वाणी के प्रभाव से उस समय के कई राजवंशों का पारिवारिक वातावरण धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत था।

पोतनपुर नरेश प्रसन्नचन्द्र, दशार्णपुर नरेश दशार्णभद्र आदि अनेक भूपाल जैनधर्म के अनुयायी थे।

❊ गणराज्य अध्यक्ष चेटक

चेटक शक्तिशाली वैशाली गणराज्य का अध्यक्ष था। प्रजातंत्र का जो रूप आज हम देख रहे हैं, उसका वैसा स्वरूप ढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली गणराज्य में देखने को मिलता था। वैशाली राज्य 18 विभागों में विभक्त था, जिसका प्रतिनिधित्व नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ली राजा करते थे। वे सभी जैन धर्मानुयायी थे। राज्य का संचालन गण परिषद् द्वारा होता था।

चेटक की जैनधर्म में अगाध आस्था थी। चेटक कोणिक के भीषणयुद्ध में भी चेटक ने स्वीकृत नियमों का पालन किया। चेटक ने अपनी पुत्रियों का सम्बन्ध सुप्रसिद्ध उच्च राजवंशों में किया। सिन्धु-सौवीर प्रदेश के राजा उदायन के साथ प्रभावती का, अंगप्रदेश के राजा दधिवाहन के साथ पद्मावती का, वत्स देश के राजा शतानीक के साथ मृगावती का, उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत के साथ शिवा का, महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नंदीवर्द्धन के साथ ज्येष्ठा का एवं मगध नरेश श्रेणिक के साथ चेलना का विवाह हुआ। ज्येष्ठा महावीर के मामा की पुत्री थी।

सुज्येष्ठा भगवान महावीर के संघ में साध्वी बनी। चेटक के अजैन दामादों को जैन बनाने का श्रेय चेटक की पुत्रियों को है। भगवान महावीर की माँ त्रिशला चेटक की बहिन थी। महावीर चेटक के भागिनेय थे। चेटक का पूरा परिवार भी वीतराग शासन के प्रति अनन्य निष्ठावान था।

❊ सम्राट कोणिक (अजातशत्रु)

भगवान महावीर के समय में मगध पर सम्राट श्रेणिक (बिम्बसार) का एवं अवन्ती पर चण्डप्रद्योत का शासन था। सम्राट श्रेणिक का वीर निर्वाण के लगभग 17 वर्ष पूर्व देहावसान हो गया। श्रेणिक के बाद मगध पर कोणिक (अजातशत्रु) का शासन स्थापित हुआ। तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा के शासनकाल में मगध पर कोणिक का एवं अवन्ती पर पालक राज्य करता था।

नरेश कोणिक वीतराग शासन के प्रति दृढ़ आस्थाशील था। तीर्थंकर महावीर के प्रतिदिन के सुख-संवाद सुनने के लिए वह सदा उत्सुक रहता था। उसके राज्य में एक ऐसे विभाग की व्यवस्था थी, जिससे नरेश को तीर्थंकर महावीर के सुख-संवाद निरन्तर प्राप्त हो सके। औपपातिक उपांग में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। आचार्य सुधर्मा की परिषद् में नरेश कोणिक उपस्थित होता रहता था।

जम्बू और प्रभव आदि 500 व्यक्ति मुनि जीवन स्वीकार करने की तैयारी में थे। उनके दीक्षा महोत्सव के प्रसंग पर सम्राट अजातशत्रु कोणिक भी उन्हें आशीर्वाद प्रदान करने वहाँ पहुँचा। दीक्षार्थियों के खुशनुमा वातावरण को देखकर वह हर्षित हुआ। उसने जम्बू के निवेदन पर स्तेन-सम्राट प्रभव और उनके सभी साथियों के कृत अपराधों हेतु क्षमाकर उनके संयम मार्ग पर बढ़ने का मार्ग निर्बाध किया एवं जैनधर्म के प्रभावी कार्य में प्रसन्नमना सहयोगी बना।

एक बार तेजस्वी, वर्चस्वी एक मुनि को आचार्य सुधर्मा के परिपार्श्व में बैठे देखकर नरेश कोणिक ने प्रश्न किया–आचार्यदेव! आपकी श्रमण मण्डली में अपार रूप-सम्पदा के स्वामी ये तेजस्वी मुनि कौन हैं? इनको देखकर मेरे मन में प्रीति का भाव जागृत हो रहा है।

अपने प्रश्न के उत्तर में आचार्य सुधर्मा से मुनि जम्बू के जीवन के पूर्वकाल का विस्तार से परिचय पाकर नरेश कोणिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

ये तीनों प्रसंग जैन धर्म के प्रति नरेश कोणिक की हार्दिक निष्ठा को प्रमाणित करते हैं।

❊ सम्राट् चण्डप्रद्योत

भगवान महावीर के समय में अवन्ती पर चण्डप्रद्योत का शासन था। राजा चण्डप्रद्योत तीर्थंकर महावीर का परमभक्त था। भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि में चण्डप्रद्योत का देहावसान हो गया। अवन्ती के राज-सिंहासन पर प्रद्योत पुत्र पालक आरूढ़ हुआ। राजा चण्डप्रद्योत की भाँति पालक भी जैन धर्म में आस्थावान था। राज्यकाल के बीसवें वर्ष में अपने पुत्र 'अवन्तीवर्द्धन' को राज्य सौंपकर तथा 'राष्ट्रवर्द्धन' को युवराज बनाकर आचार्य सुधर्मा के पास 'पालक' ने मुनि दीक्षा ग्रहण की। पालक के लघु भ्राता गोपालक ने उनसे पहले ही मुनि दीक्षा स्वीकार कर ली थी।

❊ सम्राट उदायी

मगध नरेश उदायी जैन धर्म का उपासक था। कोणिक की राजधानी चंपा थी। उदायी ने राजधानी के लिए पाटलिपुत्र की स्थापना की। पाटलिपुत्र की स्थापना का रोचक इतिहास परिशिष्ट पर्व, आवश्यक निर्युक्ति, चूर्णि ग्रंथों में विस्तार से है। उदायी का लगभग 44 वर्ष का शासनकाल रहा।

अष्टमी और चतुर्दशी को उदायी पौषधोपासना किया करता था। देहावसान के समय भी वह पौषधक्रिया में प्रवृत्त था।

❊ नंद वंश

उदायी के बाद मगध पर नंद वंश का शासन स्थापित हुआ। इस समय वीर निर्वाण के 60 वर्ष व्यतीत हो गए थे। वैदिक ग्रंथों में वर्णित शिशुनाग वंशीय राजाओं का समापनकाल था। नन्द शासन का इस समय अभ्युदय हो रहा था। नंद शासन के प्रारम्भिक समय में आचार्य जम्बू के धर्मशासनकाल का उत्तरार्ध चल रहा था। उनके शासनकाल के चार वर्ष अवशिष्ट थे।

नंदों के शासनकाल में जैन आमात्यों का अभ्युदय जैन इतिहास का सुनहरा पृष्ठ है। कल्पाक नंद वंश का प्रथम महामात्य था। कल्पाक के गुणों से प्रभावित होकर नरेश नंद ने महामात्य पद पर उनकी नियुक्ति की। कल्पाक की बुद्धि से नंद साम्राज्य का चतुर्मुखी विकास हुआ। कल्पाक के वंशज नंदों के शासनकाल में आमात्य पद के दायित्व को निभाते रहे। नौंवें नंद के समय महामात्य पद पर बुद्धिमान शकडाल (आर्य स्थूलिभद्र के पिता) था। शकडाल का पूरा परिवार जैन संस्कारों से ओत-प्रोत था।

शकडाल कुशल राजनीतिज्ञ था। नंद साम्राज्य की कीर्तिलता महामन्त्री के कौशल से दिग्-दिगन्त में प्रसारित थी। वीर निर्वाण के बाद अवन्ती पर साठ वर्ष तक पालक का एवं मगध पर श्रेणिक के वंशजों का शासन था। इसके बाद मगध पर 155 वर्ष तक नंदों का शासन रहा। जैन इतिहास के अनुसार नंदों के शासन काल में नौ नंद हुए। इस काल में आचार्य प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र जैसे श्रुतसम्पन्न प्रभावी आचार्य हुए। इन आचार्यों के प्रयत्नों से संपूर्ण मगधराज्य में तथा अंग, बंग, कलिंग तक जैन धर्म के स्वर गुंजायमान थे। महामात्य शकडाल के पारिवारिक सदस्य स्थूलिभद्र, श्रीयक एवं सातों पुत्रियों का दीक्षा-संस्कार आचार्य सम्भूतविजय के द्वारा हुआ। शोध विद्वानों के मतानुसार सभी नन्द नरेश जैन थे। नंद वंश शासन के आमात्य भी जैन

थे। नंदों का भारत के उत्तर भाग में हिमाचलवर्ती प्रदेशों पर भी शासन था। कश्मीर भी उनके अधिकार में था। अत: वहाँ तक जैन धर्म के विस्तार की संभावना है।

❊ मौर्य राजवंश

नंद वंश के बाद मगध पर मौर्य-वंश स्थापित हुआ। इस राजवंश का प्रथम संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। चन्द्रगुप्त ने चणक पुत्र चाणक्य की महामंत्री पद पर नियुक्ति की।

सम्राट् चन्द्रगुप्त उस युग का प्रभावशाली ऐतिहासिक राजपुरुष था। उसको जैन बनाने का श्रेय एकमात्र महामात्य चाणक्य को है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त और चाणक्य

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और मंत्रीश्वर चाणक्य का आगमन नंद साम्राज्य में क्रान्ति रूप में हुआ। यह क्रान्ति महामात्य शकडाल की मृत्यु और स्थूलिभद्र एवं श्रीयक की दीक्षा के बाद हुई।

चाणक्य कुशल राजनीतिज्ञ था। नंदराज्य के किसी आयोजन में अपमानित होने पर वह नंद-नरेश का शत्रु बन गया। चाणक्य को चन्द्रगुप्त का योग मिला। दोनों ने मिलकर सैन्य दल तैयार किया। प्रथम बार उनको करारी हार मिली, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी।

पर्वत नरेश को साथ मिलाकर उन्होंने पुन: युद्ध लड़ा। संयुक्त सैन्यदल के सामने सुदृढ़ नंद साम्राज्य की नींव हिल गई। नंद साम्राज्य का पतन एवं मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। यह समय वी. नि. 215 का है।

इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना यूनानी सम्राट सिकंदर का पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण था। परन्तु नंद-राज्य की सुदृढ़ता के कारण वह मगध की ओर नहीं बढ़ पाया। कुशल राजनीतिज्ञ चन्द्रगुप्त और चाणक्य के द्वारा नंद साम्राज्य का पतन हुआ। जैन इतिहास के अनुसार नंदों का शासनकाल 155 वर्ष का था।

भारत के प्राचीन राजनैतिक इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक इतिहास चन्द्रगुप्त का है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के बाद चन्द्रगुप्त ने राज्य के विस्तार को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम भारत को राजनैतिक दृष्टि से एक सूत्र में बांधा। उसका साम्राज्य विध्यांचल की सीमा से भी आगे तक विस्तृत था। यूनानी शासन से भारत को मुक्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य चन्द्रगुप्त ने किया था।

चाणक्य का जन्म वीर निर्वाण 152 (वि. पू.318 ई.पू. 375) के लगभग का है। गोल्ल उसकी जन्मभूमि थी। माता का नाम चणकेश्वरी एवं पिता का नाम चणक था। चणक और चणकेश्वरी दोनों धर्मप्रधान वृत्ति के थे। चाणक्य का जन्म हुआ उस समय जैन संत, ब्राह्मण चणक के मकान में विराज रहे थे। बालक के लिए संतों ने बताया था कि यह राजा के समकक्ष प्रभावशाली होगा। संतों की भविष्यवाणी फलित हुई। चाणक्य सम्राट चन्द्रगुप्त का अभिन्न अंग बन गया था।

सम्राट चन्द्रगुप्त का 25 वर्ष का शासनकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णिम काल कहलाता है।

❊ सम्राट् बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार ने राज्यभार संभाला। बिन्दुसार मौर्य वंश का द्वितीय सम्राट् एवं मगध साम्राज्य का शक्तिशाली अधिपति था। इस समय धर्मप्रभावक आचार्य महागिरि और सुहस्ती विद्यमान थे। दुष्काल में भिखारी को आचार्य सुहस्ती द्वारा दीक्षा देने की घटना बिन्दुसार के युग की बताई गई है। बिन्दुसार के शासनकाल में महामात्य चाणक्य वृद्धावस्था में था। उसने बुद्धिमानीपूर्वक बहुत जल्दी ही आमात्य पद से मुक्ति ले ली। जैन श्वेताम्बर ग्रंथों में चाणक्य द्वारा अन्तिम समय में अनशन स्वीकार करने का वर्णन है एवं आराधना आदि दिगम्बर ग्रंथों में चाणक्य की कठिन तपस्याओं का उल्लेख मिलता है।

प्रजावत्सल, धर्म-प्रेमी, कुशल राज्य-संचालक बिन्दुसार का देहावसान वीर निर्माण 324 (वि.पू. 146 ई. पूर्व 203) में हुआ था। बिन्दुसार का शासनकाल सुव्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण था।

❊ सम्राट् अशोक

मौर्य वंश का तृतीय शक्तिशाली नरेश अशोक था। अशोक की गणना विश्व के महान सम्राटों में की जाती है। अशोक योग्य और प्रतापी नरेश था। उसके पुत्र का नाम कुणाल था।

नंद नरेश ने (वीर नि. 103, वि. पूर्व 367, ई. पू. 424) के लगभग कलिंग देश पर विजय प्राप्त की। वहाँ से लौटते समय वह साथ में जैन मूर्ति भी ले आया। उस समय से ही कलिंग राज्य मगध के अधीन था। नंद वंश के पतन के बाद कलिंग पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। अशोक ने (वी. नि. 383, वि.पू. 87, ई. पू. 144) के लगभग अपने राज्य काल के आठवें वर्ष में विशाल सेना के साथ पुन: कलिंग पर आक्रमण किया, भयंकर युद्ध हुआ। इसमें कलिंग की करारी हार हुई। इस घटना के बाद विजयी अशोक का मन अध्यात्म की ओर उन्मुख हुआ। उसने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को सुदूर लंका में भेजकर धर्म प्रचार करवाया। अशोक बौद्ध धर्मानुयायी था। उसने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए विशेष योगदान दिया, ऐसा माना जा रहा है।

ब्राह्मण साहित्य में अशोक का उल्लेख प्राय: नहीं है। बौद्धग्रंथों में प्राप्त अशोक के ऐतिहासिक तथ्यों का जैन ग्रंथों से प्राय: समर्थन नहीं होता। अशोक के सम्बन्ध में सबसे बड़ा ऐतिहासिक आधार अशोक के शिलालेख है। ये शिलालेख अशोक का बौद्ध होना प्रमाणिक रूप से पुष्ट नहीं करते। इन शिलालेखों में कई शिलालेख स्वयं अशोक द्वारा लिखवाए गए हैं, कई शिलालेख उसके पौत्र संप्रति द्वारा लिखवाए गए हैं। इन शिलालेखों से अशोक के बौद्ध होने की अपेक्षा जैन होने का अधिक समर्थन मिलता है। चार आर्यसत्य, अष्टांगी मार्ग आदि बौद्ध सम्मत सिद्धान्तों की शिलालेखों में चर्चा नहीं है, अपितु इन शिलालेखों में समागत सावण (श्रावक) धम्मलिपि जैसे शब्दों का प्रयोग उसके जैन होने की अधिक पुष्टि करते हैं।

अशोक का जन्म जैन परिवार में हुआ। अशोक के पिता और पितामह जैन थे अत: वह अवश्य ही जैन था। उसके बौद्ध होने का शिलालेखों में कोई अकाट्य प्रमाण प्राप्त नहीं है। नीति परायण एवं प्रतापी अशोक का देहावसान ई. पू. 234 या 232 के लगभग हुआ।

❊ सम्राट् सम्प्रति

सम्राट अशोक का पुत्र कुणाल एवं कुणाल का पुत्र सम्प्रति था। राजकुमार कुणाल कौमार्य अवस्था में अपने नयनों को खो चुका था। कुणाल पुत्र सम्प्रति मौर्य सम्राट अशोक का उत्तराधिकारी बना। सम्राट सम्प्रति भी अपने प्रपितामह और पितामह की भाँति धर्मप्रेमी और प्रतापी नरेश था। मौर्य वंशी राजाओं में चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल, सम्प्रति, पुण्यरथ एवं वृहद्रथ सम्राट हुए। इन सात पीढ़ियों में एक सौ साठ वर्ष के राज्य काल में सम्राट् सम्प्रति के राज्य को जैन ग्रंथों में सर्वोत्तम माना है। बौद्ध ग्रंथों में धर्म प्रचार की दृष्टि से जो स्थान सम्राट अशोक का है, जैन ग्रंथों में वही स्थान सम्राट् सम्प्रति का है।

जैनशासन की प्रभावना में आचार्य सुहस्ती एवं सम्राट् सम्प्रति का विशिष्ट योगदान है।

मौर्यवंशी कुणाल का पुत्र सम्राट सम्प्रति, आचार्य सुहस्ती से सम्यक्त्व रत्न प्राप्त कर जैन धर्म का व्रतधारी श्रावक बना और उसने जैन शासन के लिए जो यशस्वी कार्य किए वे इतिहास के पृष्ठों में अंकित रहेंगे। जैन सम्राट् सम्प्रति जैन राजाओं में प्रथम सम्राट था, जिसने अपने राजपुरुषों को जैन धर्म का प्रशिक्षण देकर श्रमण-परिधान सहित उन्हें अनार्य क्षेत्रों में प्रेषित किया। सम्राट् सम्प्रति के निर्देशानुसार राजपुरुषों ने अनार्य एवं अधार्मिक लोगों में जैन संस्कारों के बीज वपन कर अनार्य भूमि को चरित्रनिष्ठ श्रमणों के लिए, विहरण योग्य बनाया। अरब, ईरान आदि विदेशों में भी जैन संस्कारों को पल्लवित कर धर्म प्रचार के क्षेत्र में सम्प्रति ने जो किया वह अपने आपमें अद्‌भुत था। 'बिसेन्ट स्मिथ' के अनुसार सम्प्रति ने अरब, ईरान आदि देशों में जैन संस्कृति के केन्द्र स्थापित किए थे।

आधुनिक शोध विद्वानों के अभिमत से अशोक के नाम से सुप्रसिद्ध शिलालेखों में से अधिकांश शिलालेख सम्राट् संप्रति के द्वारा उत्कीर्ण करवाया जाना संभव है।

यशस्वी धर्मानुरागी सम्राट सम्प्रति का देहावसान ई. पू. 190 के लगभग हुआ।

❊ सम्राट् खारवेल

उड़ीसा प्रान्त का प्रतापी शासक खारवेल जैन उपासक था। वह महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय की उत्तरवर्ती राज-परम्परा से संबन्धित था। उसका दूसरा नाम महामेघवाहन था।

जैनाचार्यों और प्रभावक राजाओं की शृंखला में आचार्य सुधर्मा के साथ नरेश कोणिक (अजातशत्रु) का, आचार्य सुहस्ती के साथ सम्राट सम्प्रति का, आचार्य सिद्धसेन के साथ विक्रमादित्य, कूर्मार नरेश देवपाल आदि कई राजाओं का, आचार्य पूज्यपाद (देवनंदी) के साथ नरेश कोंगुणी एवं दुर्विनीत कोंगुणी का, आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र के साथ नरेश अमोघवर्ष और अकाल वर्ष का, आचार्य बप्पमट्टी के साथ आम राजा का, आचार्य हेमचन्द्र के साथ सिद्धराज जयसिंह व चौलुक्य कुमारपाल का, आचार्य जिनप्रभसूरि के साथ बादशाह तुगलक का, आचार्य हीर विजय जी एवं जिनचन्द्रसूरि के साथ बादशाह अकबर का इतिहास गौरवमय शब्दों में लिखा हुआ है । पर महाराज खारवेल का उल्लेख इस लम्बी शृंखला में कहीं और किसी आचार्य के साथ जैन ग्रंथों में

उपलब्ध नहीं है। इस आधार पर इतिहासकारों ने सम्राट खारवेल को पार्श्वपत्यिक संघ का अनुयायी माना है।

जैन प्रचार-प्रसार का व्यापक रूप में जो कार्य कलिंगाधिपति खारवेल ने किया वह अद्वितीय था। अपने समय में उन्होंने एक वृहद् जैन सम्मेलन का समायोजन किया। जिसमें आस-पास के अनेक जैनमुनि, आचार्य, विद्वान उपासक सम्मिलित हुए।

सम्राट खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप में धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज जैसे शब्दों से संबोधित किया गया। हाथीगुफा (उड़ीसा) के शिलालेख में इसका विशद वर्णन है।

पाठ-11 पच्चीस बोल (1-14)

पच्चीस बोल

1. पहला बोल – गति चार

1. नरकगति
2. तिर्यंचगति
3. मनुष्यगति
4. देवगति।

2. दूसरा बोल – जाति पांच

1. एकेन्द्रिय
2. द्वीन्द्रिय
3. त्रीन्द्रिय
4. चतुरिन्द्रिय
5. पञ्चेन्द्रिय

3. तीसरा बोल – काया छह

1. पृथ्वीकाय
2. अप्काय
3. तेजस्काय
4. वायुकाय
5. वनस्पतिकाय
6. त्रसकाय ।

4. चौथा बोल – इन्द्रिय पांच

1. स्पर्शनेन्द्रिय
2. रसनेन्द्रिय
3. घ्राणेन्द्रिय
4. चक्षुरिन्द्रिय
5. श्रोत्रेन्द्रिय।

5. पांचवां बोल – पर्याप्ति छह

1. आहार-पर्याप्ति
2. शरीर-पर्याप्ति
4. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति
5. भाषा-पर्याप्ति

3. इन्द्रिय-पर्याप्ति 6. मनः पर्याप्ति

6. छठा बोल – प्राण दस

1. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण 6. मनोबल
2. चक्षुरिन्द्रिय प्राण 7. वचनबल
3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 8. कायबल
4. रसनेन्द्रिय प्राण 9. श्वासोच्छ्वास प्राण
5. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण 10. आयुष्य प्राण।

7. सातवां बोल – शरीर पांच

1. औदारिक शरीर 4. तैजस शरीर
2. वैक्रिय शरीर 5. कार्मण शरीर ।
3. आहारक शरीर

8. आठवां बोल – योग पन्द्रह

मनोयोग के चार भेद वचनयोग के चार भेद

1. सत्य-मनोयोग 5. सत्य-वचनयोग
2. असत्य मनोयोग 6. असत्य-वचनयोग
3. मिश्र-मनोयोग 7. मिश्र-वचनयोग
4. व्यवहार-मनोयोग 8. व्यवहार-वचनयोग ।

काययोग के सात भेद

9. औदारिक-काययोग 13. आहारक-काययोग
10. औदारिक-मिश्र-काययोग 14.आहारक-मिश्र-काययोग
11. वैक्रिय-काययोग 15. कार्मण-काययोग
12. वैक्रिय-मिश्र-काययोग

9. नौंवा बोल – उपयोग बारह

पांच ज्ञान -

1. मतिज्ञान 4. मनःपर्यवज्ञान
2. श्रुतज्ञान 5. केवलज्ञान
3. अवधिज्ञान

तीन अज्ञान -

6. मतिअज्ञान 8. विभंगअज्ञान

7. श्रुतअज्ञान

चार दर्शन -

9. चक्षु दर्शन 11. अवधिदर्शन

10. अचक्षुदर्शन 12. केवलदर्शन ।

10. दसवां बोल – कर्म आठ

1. ज्ञानावरणीय कर्म 5. आयुष्य कर्म

2. दर्शनावरणीय कर्म 6. नाम कर्म

3. वेदनीय कर्म 7. गोत्र कर्म

4. मोहनीय कर्म 8. अंतराय कर्म ।

11. ग्यारहवां बोल – गुणस्थान चौदह

1. मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान
2. सास्वादन-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान
3. मिश्र-गुणस्थान
4. अविरति-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान
5. देशविरति-गुणस्थान
6. प्रमत्तसंयत-गुणस्थान
7. अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान
8. निवृत्तिबादर-गुणस्थान
9. अनिवृत्तिबादर-गुणस्थान
10. सूक्ष्म-सम्पराय-गुणस्थान
11. उपशांत-मोह-गुणस्थान
12. क्षीणमोह-गुणस्थान
13. सयोगी-केवली-गुणस्थान
14. अयोगी-केवली-गुणस्थान

12. बारहवां बोल – पांच इन्द्रियों के तेईस विषय

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है–शब्द। वह तीन प्रकार का होता है।

1. जीव शब्द 2. अजीव शब्द 3. मिश्र शब्द ।

चक्षुरिन्द्रिय का विषय है–वर्ण। वह पांच प्रकार का होता है।

1. कृष्ण वर्ण 2. नील वर्ण 3. रक्त वर्ण

4. पीत वर्ण 5. श्वेत वर्ण।

घ्राणेन्द्रिय का विषय है–गंध। वह दो प्रकार का होता है।

1. सुगंध 2. दुर्गंध ।

रसनेन्द्रिय का विषय है–रस। वह पांच प्रकार का होता है।

1. तिक्त रस
2. कटु रस
3. कषाय रस
4. आम्ल रस
5. मधुर रस ।

स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है–स्पर्श। वह आठ प्रकार का होता है।

1. शीत स्पर्श
2. उष्ण स्पर्श
3. स्निग्ध स्पर्श
4. रुक्ष स्पर्श
5. कर्कश स्पर्श
6. मृदु स्पर्श
7. गुरु स्पर्श
8. लघु स्पर्श ।

13. तेरहवां बोल – दस प्रकार के मिथ्यात्व

1. धर्म को अधर्म समझना
2. अधर्म को धर्म समझना
3. मार्ग को कुमार्ग समझना
4. कुमार्ग को मार्ग समझना
5. जीव को अजीव समझना
6. अजीव को जीव समझना
7. साधु को असाधु समझना
8. असाधु को साधु समझना
9. मुक्त को अमुक्त समझना
10. अमुक्त को मुक्त समझना

14. चौदहवां बोल – नव तत्त्व के 115 भेद

1. जीव तत्त्व के चौदह भेद-

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	1. अपर्याप्त 2. पर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	3. अपर्याप्त 4. पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	5. अपर्याप्त 6. पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	7. अपर्याप्त 8. पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	9. अपर्याप्त 10. पर्याप्त
असंज्ञी-पंचेन्द्रिय के दो भेद	11. अपर्याप्त 12. पर्याप्त
संज्ञी-पंचेन्द्रिय के दो भेद	13. अपर्याप्त 14. पर्याप्त

2. अजीव तत्त्व के चौदह भेद

धर्मास्तिकाय के तीन भेद -

1. स्कंध 2. देश 3. प्रदेश ।

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद -

4. स्कंध 5. देश 6. प्रदेश ।

आकाशस्तिकाय के तीन भेद -

7. स्कंध 8. देश 9. प्रदेश ।

काल का एक भेद–10 काल ।

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद -

11. स्कंध 13. प्रदेश

12. देश 14. परमाणु ।

3. पुण्य तत्त्व के नौ भेद -

1. अन्न-पुण्य
2. पान-पुण्य
3. लयन (स्थान)-पुण्य
4. शयन-पुण्य
5. वस्त्र-पुण्य
6. मन-पुण्य
7. वचन-पुण्य
8. काय-पुण्य
9. नमस्कार-पुण्य ।

4. पाप तत्त्व के अठारह भेद -

1. प्राणातिपात पाप
2. मृषावाद पाप
3. अदत्तादान पाप
4. मैथुन पाप
5. परिग्रह पाप
6. क्रोध पाप
7. मान पाप
8. माया पाप
9. लोभ पाप
10. राग पाप
11. द्वेष पाप
12. कलह पाप
13. अभ्याख्यान पाप
14. पैशुन्य पाप
15. परपरिवाद पाप
16. रति-अरति पाप
17. माया-मृषा पाप
18. मिथ्यादर्शनशल्य पाप।

5. आस्रव तत्त्व के बीस भेद -

1. मिथ्यात्व आस्रव
2. अव्रत आस्रव
11. श्रोत्रेन्द्रिय-प्रवृत्ति आस्रव
12. चक्षुरिन्द्रिय-प्रवृत्ति आस्रव

3. प्रमाद आस्रव
4. कषाय आस्रव
5. योग आस्रव
6. प्राणातिपात आस्रव
7. मृषावाद आस्रव
8. अदत्तादान आस्रव
9. मैथुन आस्रव
10. परिग्रह आस्रव
13. घ्राणेन्द्रिय-प्रवृत्ति आस्रव
14. रसनेन्द्रिय-प्रवृत्ति आस्रव
15. स्पर्शनेन्द्रिय-प्रवृत्ति आस्रव
16. मन-प्रवृत्ति आस्रव
17. वचन-प्रवृत्ति आस्रव
18. काय-प्रवृत्ति आस्रव
19. भण्डोपकरण रखने में अयत्ना करना आस्रव
20. शुचि-कुशाग्रमात्र दोष-सेवन आस्रव

6. संवर तत्त्व के बीस भेद

1. सम्यकत्व संवर
2. व्रत संवर
3. अप्रमाद संवर
4. अकषाय संवर
5. अयोग संवर
6. प्राणातिपात-विरमण संवर
7. मृषावाद-विरमण संवर
8. अदत्तादान-विरमण संवर
9. अब्रह्मचर्य-विरमण संवर
10. परिग्रह-विरमण संवर
11. श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह संवर
12. चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह संवर
13. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह संवर
14. रसनेन्द्रिय-निग्रह संवर
15. स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह संवर
16. मनो-निग्रह संवर
17. वचन-निग्रह संवर
18. काय-निग्रह संवर
19. भण्डोपकरण रखने में अयत्ना न करना संवर
20. शुचि-कुशाग्रमात्र दोष-सेवन न करना संवर ।

7. निर्जरा तत्त्व के बारह भेद -

1. अनशन
2. ऊनोदरी
3. भिक्षाचरी
4. रसपरित्याग
5. काय-क्लेश
6. प्रतिसंलीनता
7. प्रायश्चित्त
8. विनय
9. वैयावृत्य
10. स्वाध्याय
11. ध्यान
12. व्युत्सर्ग।

8. बंध तत्त्व के चार भेद -

1. प्रकृति-बन्ध
2. स्थिति-बन्ध
3. अनुभाग-बन्ध
4. प्रदेश-बन्ध।

9. मोक्ष तत्त्व के चार भेद -

1. ज्ञान
2. दर्शन
3. चारित्र
4. तप।

पुस्तक के सभी पाठों से संबंधित प्रश्नों के अभ्यास के लिए स्केन करें–

Sambodhi E-Library